

يحيى بن عيسى بن عبد الله

18.1





ब्राह्मण समाज की स्थिति ।



स्वामीसहजानन्दसरस्वती ।

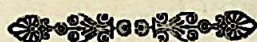
2004
2004



1000000

॥ श्रीः ॥

ब्राह्मणसमाज की स्थिति ।



ब्राह्मणों के प्राचीन गौरव, कर्ममयजीवन, कृषि, एकता,
आधुनिक अवनति, सामाजिक दुर्दशा, संस्कारहीनता,
अवश्यकर्तव्य कार्य आदि विषयों
की सविस्तर मीमांसा ।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्री १०८ दण्डि
स्वामीसहजानन्दसरस्वती, काशी द्वारा
लोकोपकारार्थ विरचित

तथा

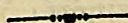
प्रकाशित ।



‘आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्’ । (यजु० २२।२२) ॥



बी. एल. पावगी द्वारा हितचिन्तक प्रेस, रामघाट,
बनारस सिटी में मुद्रित ।



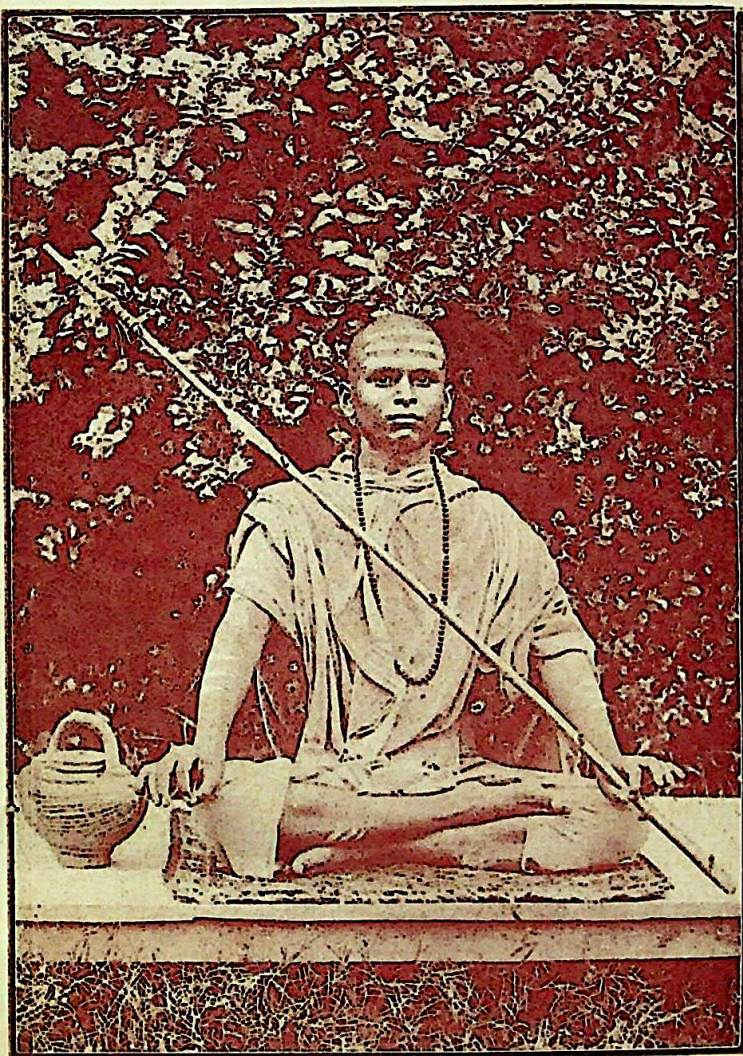
द्वितीयावृत्ति १००० } सम्बत् १९८५ विक्रमी ।

१. ~~मूल्य आठ आना ।~~
~~अकल्प्य अधिक ।~~

विषयसूची ।

संख्या	विषय	पृष्ठ	पंक्ति
(१)	प्राचीन प्रतिष्ठा ।	४	४
(२)	कृषि (मनुस्मृति) ।	२१	२५
	„ (आश्वलायन) ।	२३	४
	„ (पारस्कर) ।	२४	१
	„ (ऋग्वेद) ।	२४	११
	„ (अथर्ववेद) ।	२५	१२
	„ (यजुर्वेद) ।	२५	२३
(३)	याचक और अयाचक ।	२५	२६
(४)	प्रतिष्ठाका मूल ।	२६	१३
(५)	प्राचीन एकता ।	३२	३
(६)	आधुनिक दुर्दशा ।	४०	२
(७)	दम्भ और वृथा अभिमान ।	४५	१६
(८)	'अविद्यो वा सविद्यो वा'	५०	१४
(९)	अब किसे खिलावे	५६	१६
(१०)	कलियुग और सत्ययुग ।	६०	२५
(११)	तीर्थ, पण्डे और पुजारी ।	६३	१२
(१२)	परस्पर द्वेषका आभास ।	६५	२६
(१३)	बामन और ब्राह्मण	७०	२५
(१४)	पयासी मिश्र और मयूरभट्ट	८४	१७
(१५)	संस्कार हीनता ।	७४	२६
(१६)	अनिवार्य कर्त्तव्य-वट्कर्म ।	८३	८
(१७)	उपसंहार और समर्पण ।	८८	१





श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी
श्रीसहजानन्द सरस्वती ।



भूमिका

श्रीहरि:

विद्या तपश्च योनिश्च एतद् (त्रयं) ब्राह्मणकारकम् ।

विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥ (महामाष्यम्)

५—१—११५

इसमें संशय नहीं कि भारत का अधःपात जैसा इस समय हो गया है वसा "न भूतो न भविष्यति" । इसमें भी सन्देह नहीं कि ब्रिज भारतीयों के हृदय में कुछ भी मनुष्यता की मात्रा रह गई है उन्हें इस दशा के स्मरणमात्र से ही मार्मिक वेदना होती है । यह भी निर्विवाद है कि इसका कुछ न कुछ कारण अवश्य ही है । अब केवल यही प्रश्न रह गया कि वह कारण कौनसा है; क्योंकि निदानज्ञान बिना रोग की यथार्थ औषधि हो ही नहीं सकती । यह प्रश्न विवादग्रस्त है । इसका उत्तर "रुचीनां वैचित्र्यात्" के अनुसार लोग भिन्न भिन्न दिया करते हैं । हमें यहांपर उन सभी उत्तरोंकी अलोचना करनी नहीं है, वरन केवल यही कहना है कि चाहे जो भी इसके कारण हों उन सभी का अधिकांश उत्तरदायित्व हिन्दूसमाज के मत्थे है । हिन्दू समाज इस अवनति की जवाबदेही से बच नहीं सकता । ऐसी दशा में इस समाज को आँखें खोलकर देखना चाहिये कि इसने कौनसा ऐसा महापातक किया है, या कर रहा है, जिससे एक तो उस के फलस्वरूप महादुःखदावानल में दग्ध होना पड़ रहा है और दूसरे उसके लिये अपराधी भी स्वयमेव बनना पड़ रहा है । निस्सन्देह वह साधारण पाप नहीं हो सकता जिस के फल से ३३ कोटि प्रजा के कष्ट का अन्त नहीं है । थोड़ा सा ही विचार करने पर विदित हो जायगा कि हिन्दुओं के सामा-

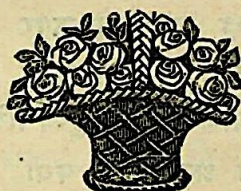
जिक संगठन और बन्धन के बेतरह अनुचित रूप से ढीले पड़ने के कारण ही यह सब दुर्दशा हो रही है और इस ढीलेपन के लिए सोलहों आने उत्तरदाता केवल ब्राह्मणसमाज है। हिन्दुओं के समाज का संगठन ऐसा है कि उसमें ब्राह्मणों की प्रधानता कई रूपों है, कम से कम तिहरे ताले के भीतर ब्राह्मणों ने हिन्दू समाज को बन्द कर रक्खा है। प्रथम तो पुरोहित के रूप में अपना अधिकार बनाया है, फिर गुरु के आकार में और अन्त में व्यास बनकर यदि कोई एक से कथमपि बच भी गया तो दूसरे से नहीं और तीसरे से तो बच ही नहीं सकता ! वस्तुतः तो यह त्रिगुण घेरा हुआ सर्वव्यापी है। इस के अतिरिक्त बहुत से स्थानों में राजा, मंत्री और जमींदार के रूप में भी वही तिहरा घेरा है। पर हाँ, इसका प्रभाव सामाजिक दृष्टि से उतना नहीं है जितना पहले का। अतएव उत्तरदायित्व भी उसी प्रकार न्यूनाधिक है। जब इसप्रकार बलवती प्रधानता जमी हुई है तो फिर क्या हिन्दूसमाज के सत्यानाश या गच्छापात के लिये प्रधान ही जवाबदेह न होगा ? इन्द्रावर, गार्ड तथा प्वाइन्ट्समैन ही ट्रनों के लड़ने या टूटने के उत्तरदाता नहीं होंगे तो फिर होगा कौन ? जहाज डूब गया परन्तु कप्तान और माफ़ी निरापराध ! तो क्या कोई यह भी कहने को तैयार है कि वह पूर्व प्रदर्शित तिरंगी प्रधानता वास्तव में झूठी है ? यदि कोई धृष्टतावश ! कहे भी तो क्या यह बात किसी को मान्य होगी ? चाहे कोई कुतूहल भी कहे पर हिन्दू समाज का संगठन उनके की चोखे कह रहा है कि हजार उपाय करलो सही, लेकिन जब तक विविध रूप में प्रधानता जमा कर बैठा हुआ ब्राह्मणसमाज न सुधरेगा—कर्त्तव्यपरायण बन कर अपने अधिकार को समझता हुआ उसका दुरुपयोग न रोकेगा—तब तक हिन्दुओं और हिन्दुस्तान की वास्तविक तथा चिरस्थायिनी उन्नति का होना असम्भव सा है समझो ! आप कुछ भी समझाइये और सिखलाइये, पर उन प्रधान

(३)

के सामने वह “नङ्कारखाने में तूती की आवाज़” ही हो जाती है। कुछ इने गिने पुरुषरत्नों को छोड़ शेष ब्राह्मणसमाज की नादिर-शाही-हिन्दूसमाज में चल रही है। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। और तो और, इस प्रधानता के मद में उस समाज ने अपने ही समाज की परस्पर घोर दुर्दशा कर रखी है। फिर इतर समाज की बात ही क्या ?

इतने बड़े अपराधों को करता हुआ भी ब्राह्मणसमाज बड़ी बड़ी डींगें मारता है और समझता है कि हमारे सामने कोई है ही नहीं। इस पुस्तिका के लिखने का एक मात्र तात्पर्य यही है कि ब्राह्मणमात्र को उन की सामाजिक स्थिति का यथार्थ ज्ञान कराकर उनके अधिकार उन्हें सुझा दिये जायँ, और यह भी बता दिया जाय कि उन अधिकारों के सदुपयोग तथा दुरुपयोग से उनको और देश को क्या हानि लाभ हो रहा है और आगे होगा। इस लेख का यह भी एक मुख्य प्रयोजन है कि जिन ब्राह्मणेतर जातियों को ब्राह्मणों की सामाजिक दशा का प्रायः पूरा पता नहीं है वह भी उसके जानकारी वन उस ज्ञान से लाभ उठावें।

लेखक

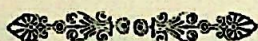


॥ श्रीहरिः ॥

ब्राह्मणसमाज की स्थिति ।

❀ पूर्वाद्ध ❀

प्राचीन-प्रतिष्ठा



श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिते ।

एकया रहितः काणो द्वाभ्यामन्ध उदाहृतः ॥ (हारीत)

हिन्दूसमाज में ब्राह्मणों का स्थान सब से ऊंचा माना जाता है । यद्यपि संन्यासियों की प्रतिष्ठा सबसे बड़ी चढ़ी है तथापि हिन्दूशास्त्रों के अनुसार दण्ड कोषाय वस्त्रादि धारणपूर्वक संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है, न कि इतर वर्णों को भी । अतः संन्यासियों की प्रतिष्ठा भी प्रकारान्तर से ब्राह्मणों की ही प्रतिष्ठा समझी जानी चाहिये । अब विचारना यह है कि यह प्रतिष्ठा क्यों हुई, हिन्दू समाज के ऊपर ब्राह्मणों की इतनी धाक क्यों जम गई, कि आज इस गये गुज़रे जमाने में भी ब्राह्मणों के नाम पर कट मरनेवाले लाखों मनुष्य पाये जाते हैं, ब्राह्मण नाम मात्र से ही लोगों की श्रद्धासरित क्यों उमड़ पड़ती है, लोग डर के मारे काँप क्यों उठते हैं, तथा प्रतिदिन उनके खिलाने पिलाने और देने लेने में आज भी लाखों रुपये क्यों खर्च किये जाते हैं, जब कि अर्थाभाव के ही कारण सभी

(५)

देशहित के कार्य रुके पड़े हैं—सार्वजनिक कार्यों के लिये देश के सच्चे नेताओं को दर दर की खाक छाननी पड़ रही है ! क्या कारण है कि स्वस्मृति समाज पर ब्राह्मणों की इस सत्ता के लाखों विरोधियों के रहते हुए भी जनता की भक्ति अनेक अंशों में ज्यों की त्यों अटूट बनी हुई है । न केवल हिन्दू जनता ने ही, वरन यजुर्वेद ने भी इनको सबसे ऊंची गद्दी दी है, क्योंकि विराट् भगवान के मुखका स्थान ब्राह्मणों को दिया है । जैसा कि—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजन्यः कुतः ।

उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

“ विराट् भगवान के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, अथवा मुख स्थानीय हुआ, क्षत्रिय बाहु से या बाहुस्थानीय, वैश्य जंघा से अथवा जंघास्थानीय और शूद्र पांव से अथवा पाँवस्थानीय ” (यजु० १२।१२) । इसी प्रकार जब यजुर्वेद के ही २२ वे अध्याय के २२ वे मन्त्र में आशीर्वाद या प्रार्थना आई है तो सब से प्रथम “आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्” द्वारा ब्रह्मतेजो युक्त ब्राह्मणों के ही हिन्दू समाज में उत्पन्न होने की प्रार्थना की गई है, बाद को क्षत्रियादि की । इसी तरह “पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धन्तां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः (यजु० १२।४४) इत्यादि में भी आदित्य आदि देवताओं के बाद ब्राह्मणों का ही नाम लिया गया है । भगवान् मनु भी लिखते हैं कि—

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।

तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥

“शास्त्रों का रचयिता तथा सत्कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, शिष्यादि का ताडनकर्ता, वेदादि का वक्ता और सर्व प्राणियों की हितकामना करने वाला ब्राह्मण कहलाता है । अतः उसके लिये

(६)

गाली गलौज या डाँट डपट के शब्दों का प्रयोग उचित नहीं” (अ० ११-३५) । इस सम्बन्ध में और भी अधिक विचार आगे मिलेगा । कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दू समाज में ब्राह्मणों का स्थान प्रथम से ही ऊँचा है और सभी ने इसे स्वीकार किया है ।

अब यदि इस प्रतिष्ठा, इस गौरव वा उच्च स्थान का कारण ढूँढ़ने चलते हैं तो बहुत दूर जाना नहीं पड़ता । जिन वाक्यों या प्रसंगों में प्रतिष्ठा दी गई है उन्हीं का पर्यालोचन हमें वास्तविक कारण तक निराबाध पहुँचा देता है । यजुर्वेद के २२ वें अध्याय का जो वाक्य पूर्वप्रदर्शित है उससे ही स्पष्ट है कि प्रतिग्रह, जमींदारी, कृषि, पंडागिरी या ढोंगसे पेट पालने अथवा द्रव्य कमानेवाले नाममात्र के ब्राह्मणों की कामना नहीं की गई है; यह नहीं कहा गया है कि पेटपाल पांडे उत्पन्न होकर ढाईसेर अन्नका एकही वार निस्तार करें, किन्तु ब्रह्मतेजःसम्पन्न ब्रह्मवर्चस्वी शंकर, व्यास, वसिष्ठादि सरोखे तरुण तारुण ब्राह्मणों के उत्पन्न होने की ही प्रार्थना है, जिनसे जगत का निस्तार हुआ, हो रहा है और होगा । तिलक तथा गोखले जैसे कर्मवीर ब्राह्मणों को ही हम सर्वदा से चाहते और मानते चले आये हैं । किसी की प्रतिष्ठा उसका मुख देखकर कोई नहीं करता और यदि कभी करता भी है तो सहस्रों में कोई । तिस पर भी वह चिरस्थायिनी नहीं हो सकती है । यजुर्वेद ने भी यदि भगवान का मुखरूपी स्थान ब्राह्मणों को दिया है तो केवल परान्नभोजी होने के कारण ही नहीं । जिस मुख से भोजन होता है उसीसे प्रथम (भोजन से पूर्व) ही वेद शास्त्रों का पठन-पाठन तथा संस्कारों का सद्गुपदेश हो लेता है । वही मस्तक ज्ञान का भण्डार और सरस्वती का जीता जागता मंदिर है । वह ऐसा सरस्वतीपवन है जिससे सहस्रों लाभ उठाते हैं और जहाँ चौबीस घंटे सरस्वती देवी की अविच्छिन्न आराधना होती रहती है । यदि पूर्वोक्त १२ वें अध्याय वाला

(७)

यजुर्वाक्य ब्राह्मणों का नाम लेता है तो साथही यह भी कहता है कि “ब्रह्माणो यज्ञैस्त्वा समिन्धन्ताम्”—हे अग्ने, तुम्हें ब्राह्मण लोग यज्ञों द्वारा उद्दीप्त करें। वह यज्ञयाग में जन्म व्यतीत करने वाले ही कर्मपरायण ब्राह्मणों का नाम लेता है, न कि केवल पेटपरायणों का।

अतएव मनु भगवान ने भी पूर्वलिखित वाक्य द्वारा ब्राह्मणों का स्वाभाविक-जन्मसिद्ध-स्वरूप यही बतलाया है कि वह सत्कर्मा का अनुष्ठान करने वाले तथा भूतों की हितकामना वाले होते हैं। वह कहते हैं कि सन्मार्ग का उपदेशक तथा पूर्वोक्त विशेषतायुक्त ही ब्राह्मण कहा जा सकता है। जो ऐसा हो वही पक्का-माननीय-ब्राह्मण कहलाता है, न कि केवल ब्राह्मणी माता और ब्राह्मण पिता से जन्म होने के कारण ही वह पूज्य हो सकता है। वह ब्राह्मण भले ही कहलाये, क्योंकि जाति जन्म से ही मानी जाती है, न कि कर्मों से। अतएव पतितों-संस्कारहीनों-तक को भी मनु ने स्पष्ट ही ब्राह्मण कह दिया है और जो अभी बच्चे हैं उन्हें भी ब्राह्मण ही कहा है। जैसा कि—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ॥

“गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें में क्षत्रिय का और बारहवें में वैश्य का उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार करे। परन्तु यदि ङ्गास, वसिष्ठादि की तरह ब्रह्मतेजोयुक्त होने की इच्छा हो तो ब्राह्मण का पाँच ही वर्ष में कर डाले” (अ० २।३६, ३७)। इन श्लोकों में संस्कारशून्य बच्चों को भी ब्राह्मण ही कहा है। इसी तरह क्षत्रिय आदि भी। “अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत” यह वेद (ब्राह्मण) वाक्य भी तो संस्काररहित बच्चों को ब्राह्मण ही कहता है। जब

(८)

संस्कार ही नहीं हुआ तो वेदादि का पढ़ना या वैदिक कर्म करना कब हो सकता है ? आगे चलकर दसवें अध्याय में “ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः” आदि वाक्यों द्वारा ब्राह्मणाद तीन वर्णों का नाम द्विज बतलाया है और फिर ११ वें अध्याय में भी—

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।

तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।

ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥

“जिन द्विजों का गायत्री (उपनयन) संस्कार यथोचित समय पर विधिवत् नहीं हुआ हो उनसे तीन प्राजापत्य व्रत कराके उनका विधिवत् उपनयन करवावे । जो द्विज वेद के अध्ययन से वंचित तथा पापकर्मा हों, पर उसका प्रायश्चित्त करना चाहें, उनसे भी यही प्राजापत्य व्रत तीन बार करावे” (१६१-६२) । यदि जन्म से न होकर कर्म से जाति मानी जाती तो फिर संस्कारहीन, वेद विमुख तथा पापी लोग पूर्व वाक्यों में ब्राह्मण क्षत्रियादि (द्विज) क्यों कहे जाते ? गौतम (न्याय) सूत्रों के भाष्य में भगवान् वात्स्यायन लिखते हैं—

अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इत्युक्ते कश्चिदाह
यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत् सम्भवति त्रात्येऽपि सम्भवेत्
त्रात्योपि ब्राह्मणः सोऽप्यस्तु विद्याचरणसम्पन्नः ।

“देखो यह ब्राह्मण कैसा विद्या तथा आचरण से युक्त है—
ऐसा सुनकर कोई कुलवादी बोला कि यदि ब्राह्मण होने से ही उस
में विद्या और आचरण आ जाते हैं तो फिर संस्कारविहीन—

(६)

पतित (ब्राह्म्य)—मैं भी विद्या और आचरण क्यों नहीं होते ? क्योंकि वह भी तो ब्राह्मण ही है ? ” इत्यादि (अ० १ सू० ५४) । अब क्या इतने पर भी संशय रह सकता है ? अस्तु, फिर भी उसमें पूजनीयता या प्रतिष्ठा की योग्यता कभी भी नहीं हो सकती, क्योंकि जातिमात्र से कोई भी पूजनीय नहीं हो सकता । अतएव विद्या तथा तप से विहीन होने पर भी, उसे ब्राह्मण कहते हुये भी, महाभाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने अपूजनीय तथा अमान्य ही ठहराया है । जैसा कि—

विद्या तपश्च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारकम् ।

विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥

“विद्या, तप और ब्राह्मण ब्राह्मणी से जन्म ये तीन बातें जिसमें पाई जायं वही पक्का ब्राह्मण है, पर जो विद्या तथा तप से शून्य है वह जातिमात्र के लिये ब्राह्मण है, पूज्य नहीं हो सकता” (पा० ५-१-११५) । इसका आशय कैयट ने इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है:—

योनिरिति ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जन्म । ब्राह्मणकारकामिनि ब्राह्मणव्यपदेशस्य निमित्तमेतदित्यर्थः । तपःश्रुताभ्यामिति नासौ परिपूर्णो ब्राह्मणः, जातिलक्षणैकदेशाश्रयस्तु तत्र ब्राह्मण-शब्दप्रयोगः ।

इसका तात्पर्य प्रथम ही कह चुके हैं । अतएव महाभाष्य के प्रारम्भ (पस्पशाह्निक) में ही लिखा गया है कि—

ब्राह्मणेनाकारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्ययो ज्ञेयश्च ।

“यह न विचार कर कि वेदवेदांग के पढ़ने से हमें क्या मिलेगा किन्तु अपना धर्म या कर्त्तव्य समझ कर—यह समझ कर कि ब्राह्मण होने के नाते ही हम उनके पढ़ने को बाध्य हैं—ब्राह्मण लोग, छात्रों

(१०)

अंगों के सहित वेदों को पढ़ें और उनका अर्थ जानें” । सम्पूर्ण संसार का गुरु बनना कोई मामूली बात नहीं है कि जो ही चाहें वही बन जायं । महान या बड़ा बनने के लिये कुछ परिश्रम करना पड़ता है । काम से ही नाम वा प्रतिष्ठा होती है न कि केवल बातों से । बड़ी बड़ी बातें करने से ही यदि काम चल जाय तो किसी को भी मगज़ मारने की आवश्यकता ही क्या थी ? इसी लिये भागवतकार ने पंचम स्कन्द में कह दिया है कि—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां संगिसंगम् ।

महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥

“महान पुरुषों की सेवासे कल्याण की प्राप्ति होती है; और स्त्री-सेवियों का संग अज्ञान या नरक का द्वार है । महान वही कहलाते हैं जो शत्रु मित्र भाव से रहित, विषयवासनाविमुक्त, क्रोधन करने वाले, दयालु एवं कोमलहृदय और परोपकारपरायण हुआ करते हैं” ।

जिस मनु भगवान ने ब्राह्मणों को उच्च आसन दिया है उन्होंने यह भी कह दिया है कि—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति ॥

यथा षण्ढो ऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।

यथा चाज्ञे ऽफलं दानं तथा विप्रो ऽनृचो ऽफलः ॥

“जिस तरह काठ का हाथी और चमड़े के हरिण बेकार हैं—सिर्फ देखने के ही काम के हैं—उसी तरह जो ब्राह्मण वेद शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता वह भी केवल नाममात्रका ही ब्राह्मण है । जैसे स्त्रियों के लिये नपुंसक, गाय के लिये गाय, और मूर्ख को दिया हुआ दान व्यर्थ हैं, वैसे ही वेदों का न पढ़ने और न जानने वाला ब्राह्मण व्यर्थ है” (अ० २।१५७, १८) । फिर कहते हैं कि—

(११)

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।

अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तपस्यन् द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य तपः परमिहोच्यते ॥

“जैसे विष से डरा करते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण सदा ही आदर स्तुकार से डरा करे और जिस तरह अमृत की इच्छा की जाती है वैसे ही तिरस्कार को नित्य चाहे । अनेक तरह के तप, नियम और व्रतादि करके ब्राह्मण उपनिषदों के सहित सम्पूर्ण वेदों को यथावत् पढ़े और जाने । जब कभी ब्राह्मण को तप करने की आवश्यकता हो तो केवल वेदों का ही अभ्यास (पाठ, विचारादि) किया करे; क्योंकि इस दुनियां में ब्राह्मण के लिये वेदाभ्यास ही सर्वश्रेष्ठ तपस्या है” (अ० २। १६२-६४) । दान के सम्बन्ध में तो और भी बड़ाई वाला नियम मनु जी ने कहा है । जैसा कि—

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।

तस्मै हव्यं न दातव्यं नहि भस्मानि हूयते ॥

“पठन पाठन से विमुख ब्राह्मण पुआल की आग की तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । इसी से उसे देवपितृकार्य में कुछ नहीं देना चाहिये, क्योंकि राख या पुआलकी अग्नि में हवन नहीं किया जाता” । (अ० ४। १६८) ।

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।

अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥

तस्मादविद्वान् विभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।

(१२)

स्वल्पकेनाप्यविद्वान् हि पङ्के गौरिव सीदति ॥

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।

न वक्त्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥

“जो ब्राह्मण विद्या और तपस्या से रहित होकर भी प्रतिग्रह की इच्छा करता है वह दाता और दान के साथ ही वैसे ही नरक में डूब मरता है जैसे पत्थर की नाव अपने सवारों के साथ डूब जाती है। इसलिये मूर्ख ब्राह्मण सभी प्रकार के दान प्रतिग्रह से डरता रहे, क्योंकि वह थोड़ा भी लेने से कीचड़ में फँसी हुई गायकी तरह कष्ट पाता है। वक्त्रध्यानी, बिलारभक्त और वेद के न जानने वाले ब्राह्मणों को धर्मज्ञ पुरुष पानी भी न दे” (अ० ४ । १६०-६२) ।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यार्जितं धनम् ।

दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।

तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥

“पूर्वोक्त तीनों प्रकार के ब्राह्मणों को धर्म से कमाया भी धन यदि दिया जाय तो परलोक में देने तथा लेने वाले दोनों को नरक ले जाता है। जिस तरह पत्थर की नाव पर चढ़ कर पार जानेवाले पानी में डूब मरते हैं, उसी प्रकार मूर्ख दाता और मूर्ख लेने वाला दोनों नरक में डूब जाया करते हैं।” (अ० ४ । १६३-६४) ।

इस दान के विचार प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि—

देशे काले उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।

पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥

‘उत्तम देश और उत्तम काल में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार श्रद्धापूर्वक जो कुछ पदार्थ दान के योग्य (पात्र) पुरुष को दिया

(१३)

जाता है वही धर्म कहलाता है ” (आचा० ६) । जब यह शंका हुई कि अच्छा, तो दान के योग्य पात्र किसे कहते हैं, तो स्वयमेव आगे चल कर दान प्रकरण में कहते हैं कि—

तपस्तप्त्वाऽमृजद् ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये ।

तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च ॥

सर्वस्य प्रभवो विप्राः श्रुताध्ययनशीलिनः ।

तेभ्यः क्रियापराः श्रेष्ठास्तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः ॥

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।

यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥

“वेदों की रक्षा, पितरों तथा देवताओं की तृप्ति और धर्म के प्रचार के ही लिये ब्रह्मा ने तपस्या करके ब्राह्मणों को उत्पन्न किया । वेद शास्त्रों के पठन पाठन और विचार में समय बिताने वाले ब्राह्मण सभी लोगों से श्रेष्ठ हैं । ब्राह्मणों में भी शास्त्रोक्त धर्म के करने वाले अन्यो से श्रेष्ठ हैं और उनसे भी श्रेष्ठ अध्यात्मतत्त्व के ज्ञाता हैं । क्योंकि केवल शास्त्र पढ़ लेने से ही कोई भी दानपात्र नहीं हो सकता, अथवा केवल तप करने मात्र से भी नहीं, किन्तु जिस पुरुष में विद्या, तप और शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान एवं सदाचार रहता है वही दानपात्र है ” (१६८-२००)

गोभूतिलहिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम् ।

नापात्रे विदुषा किञ्चिदात्मनः श्रेय इच्छता ॥

“विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः ।

गृह्णन् प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च ॥

“गौ, भूमि, तिल, सुवर्णादि पदार्थ सत्कार पूर्वक दानपात्रको धर्मज्ञ पुरुष अपने कल्याण की इच्छा से दे, कुपात्रको कभी न दे । जिसमें

(१४)

विद्या और तप न हों वह प्रतिग्रह स्वीकार न करे। क्योंकि ऐसा करने से अपने साथ ही दाता को भी नरक में लेजाता है” (२०१—२०२) । भगवान हारीत ने भी ब्राह्मणों का यथार्थ स्वरूप यों कहा है ।

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे ब्राह्मणस्य प्रकीर्त्तिते ।

एकया रक्षितः काणो द्वाभ्यामन्ध उदाहृतः ॥

“वेद और स्मृतियां ये दोनों ब्राह्मणकी आंखें हैं। यदि केवल वेद या स्मृति मात्र का ही ज्ञाता हो तो उसे काना समझना चाहिये । परन्तु दोनों को ही न जानता हो तो अन्धा कहलाता है” । मनुजी ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के कारणों के साथ साथ उनके कर्तव्यों का वर्णन इस तरह किया है—

उत्तमांगोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।

सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥

तं हि स्वयम्भुः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।

इव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥

“परमात्मा के उत्तम अंग (सिर) से उत्पन्न होने, वर्णों में ज्येष्ठ होने, और वेद शास्त्रों के ज्ञाता होने के कारण इस सम्पूर्ण सृष्टि का धर्म-विचार से ब्राह्मण ही स्वामी है । क्योंकि ब्रह्मा ने तपस्या करके देवता तथा पितरों का अंश उनके पास पहुँचाने, एवं सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के ही लिये उसे उत्पन्न किया है” । (अ० १-६३ । ६४) यहां “सर्वस्यास्य च गुप्तये” पद बड़े ही महत्व के हैं । इनका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण केवल स्वार्थपरायण न हो, किन्तु सभी लोगों के हित अहित, सुख दुःख, उन्नति अवनति तथा उनके कारणों का विचार करता रहे और लोगों के सुख दुःखों को ही अपना सुख दुःख समझे । अतएव उनके निवारणार्थ कटिबद्ध रहे । सारांश, उसे देश का सच्चा नेता तथा हितैषी होना चाहिये । यदि राजनैतिक

(३५)

अवनति देखे तो उसके ही लिये यत्न करे । यदि सामाजिक अवनति हो तो उन सामाजिक दोषों के निर्मूल करने का यत्न करे जिनसे समाज की दुर्दशा हो रही हो और यदि धार्मिक ह्रास हो तो धर्म का यथावत् प्रचार करके गीता के सिद्धान्तानुसार प्रजा की रक्षा करे । गीतावाला सिद्धान्त ऐसा है—

अन्नादभवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञादभवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

कर्म ब्रह्माद्वैवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

“अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, वृष्टि से अन्न की, यज्ञ से वृष्टि की, और यज्ञ की अंग उपांग रूप क्रियाओं द्वारा, क्रियाओं का प्रतिपादित वेद है, और वेद की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है । इसी लिये यद्यपि सभी वस्तुओं में परमात्मा की सत्ता है, तथापि यज्ञ यागादि क्रियाकलाप में उसकी विशेष रूप से स्थिति है ” (गी० ३, १४, १५) । जिन दिनों ब्राह्मण हिन्दू समाज के सच्चे नेता, तथा उपदेशक थे उन दिनों भारत सभी तरह से धन धान्य, मान प्रतिष्ठादि से सम्पन्न था और जगत का गुरु बनने का दावा गर्व के साथ करता था । उन्हीं दिनों का, नकि आजकल की परम पतित अवस्था का स्मरण करके, भगवान् मनु को यह कहने का साहस हुआ था कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

“स्वं स्वं चरित्रं शिक्तेरन् पृथिव्यां सर्वपानवाः ॥

“ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षि आदि देशोंमें उत्पन्न ब्राह्मणों से ही पृथिवी के सभी मनुष्य अपने अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें” (अ० २।२०) । इससे बढ़ कर और प्रतिष्ठा क्या हो सकती है कि समूचे संसार

(१६)

के मस्तक पर रख दिया ? सारे संसार का शिरोमणि और गुरु बना दिया; सो भी अभिमान और अकड़ के साथ ! यदि स्वप्न में भी मनु महाराज की यह धारणा होती कि सामान्यतः समूचे भारत तथा विशेषरूप से ब्राह्मणों की ऐसी पतितावस्था हो जायगी जैसी आजकल हो रही है तो क्या यह पूर्वोक्त श्लोक उनके मुख से कभी भी निकलता ? परन्तु, शायद वह यह असम्भव सा विचार मन में ला ही नहीं सके कि जो सातवें आसमान पर बैठा है कभी वह रसातल के भी नीचे चला जायगा ! सचमुच उस समय—उनके काल में जब कि देशोन्नति के भगवान् भास्कर द्वादश कला युक्त होकर भारत गगन के मध्यमें देदीप्यमान थे—ऐसा विचार असम्भव सा ही था । इसमें उनका अपराध ही क्या ? अस्तु, ब्राह्मणों के चरित्र पर प्रथम बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था । इसीलिये विलार दण्डवत तथा बकभक्ति करनेवालों को पानी तक न देने का आदेश मनु ने किया है । इसीलिये याज्ञवल्क्य ने दानपात्रता में विद्या, और तप से ऊंचा दर्जा चरित्र को दिया है और इसी से मनु यह भी आदेश कर गये हैं कि—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयंत्रितः ।

नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वांशी सर्वविक्रयी ॥

“केवल गायत्री भी जानता हुआ शास्त्रानुकूल आचरण एवं चरित्रयुक्त ब्राह्मण श्रेष्ठ है । पर तीन वेदों का ज्ञाता होकर भी भक्ष्याभक्ष्य तथा कर्तव्याकर्तव्य के विचार से रहित दुष्ट चरित्र वाला माननीय नहीं हो सकता” । (अ० २ । ११०) । जिस समय मनु के मुख से यह वाक्य निकला होगा कि—

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।

कव्यानि चैव पितरः किंभूतमधिकं ततः ॥

“जिस ब्राह्मण के मुख द्वारा सर्वदा ही देवता लोग हव्य, तथा

(१७)

पितर लोग कव्य खाया करते हैं उससे श्रेष्ठ कौन प्राणी हो सकता है ?” (अ० १ । ६५) । और जिस समय उन्होंने यह कह डाला कि—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।

कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥

“स्थावर जंगम पदार्थों में प्राणधारी श्रेष्ठ हैं, प्राणधारियों में भी बुद्धि से काम लेने वाले, बुद्धि वालों में भी मनुष्य, मनुष्यों में भी ब्राह्मण, ब्राह्मणों में भी विद्वान्, विद्वानों में भी उत्तम कार्यों में कर्तव्यबुद्धि वाले, कर्तव्यबुद्धिवालों में भी उत्तम कार्यों के कर डालने वाले, और उत्तम कार्य कर्ताओं में भी ब्रह्मवेत्ता अर्थात् अपने ही आत्मा को सभी में ओत प्रोत देखने वाले” । (अ० १, ६६, ६७) ।

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।

स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥

“ब्राह्मण जन्म मात्र से ही नित्य धर्म की मूर्ति है, क्योंकि वह धर्म के लिये ही उत्पन्न हुआ है और उसी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है । इस पृथिवी पर उत्पन्न होने के साथ ही ब्राह्मण सब प्राणियों का मालिक और धर्म का रक्षक होता है” (अ० १।६८, ६९) । इत्यादि । उस समय उनके चिरा में ब्राह्मणों के प्रति कितना गौरव रहा होगा ! सचमुच वे ब्राह्मणोंके जन्म सिद्ध पूर्व प्रदर्शित इन गुणों पर मुग्ध थे । पर, यदि उनका यह ध्यान होता कि कभी ऐसा भी समय आवेगा जब प्रायः ब्राह्मणमात्र धर्म

(१८)

के रक्षक न होकर उसी के भक्षक हो जायेंगे, उनके लिये " काला अक्षर मैस बराबर " वाली कहावत चरितार्थ होगी, उनमें सिर्फ वक़्त रह जायगा, तो क्या वे कभी भी यह हास्यजनक बातें लिखकर लज्जित होने का साहस करते ? वे तब क्योंकर लिखते कि जन्म से ही ब्राह्मण धर्म का रक्षक है, धर्म की मूर्ति है और धर्म के ही लिये संसार में आया है ?

भगवान मनु को ब्राह्मणों के बल का पूर्ण अभिमान था । वह अच्छी तरह जानते थे कि उनके आत्म-बल, विद्याबल एवं मनो-बल की एकवारगी इति श्री काल पाकर भी असम्भव है । उनकी धर्मबलि तथा स्वार्थत्याग, ये दोनों अन्त तक न्यूनाधिक रूप में बने ही रहेंगे । परोपकारपरायणता उनसे सोलहों आना अलग कभी न होगी । इसीसे पूर्वोक्त बातें कह गये हैं । यदि ब्राह्मणों के निजी बल का पूरा ध्यान उन्हें न रहता, तो यह कभी न कहते कि—

न ब्राह्मणोऽवेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् ।

स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।

तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः ॥

" यदि ब्राह्मणों का कोई कुछ अपकार करे तो वह उसकी फर्याद राजा से न कर अपने ही बल से उस अपकारी को दण्ड दे । क्योंकि राजा के बल की अपेक्षा अपनी सामर्थ्य अधिक है । इसी लिये ब्राह्मणों को उचित है कि शत्रुओं का निग्रह अपने ही बल से किया करें " (अ० ११ । ३१, ३२)

श्रुतीरथर्वागिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।

वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥

(१६)

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।

धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमाः ॥

“अथर्ववेद की क्रियाओं के अनुसार अपना कार्य करे, अथवा वचनरूप (शाप) शस्त्रसे ही शत्रुओं का नाश करे; क्योंकि, ब्राह्मण का शस्त्र वचन ही है। क्षत्रिय अपनी विपत्ति का अन्त निजी बाहु बलसे करे, वैश्य तथा शूद्र धनसे, एवं ब्राह्मण जप और होम द्वारा” (अ० ११।३३, ३४)। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कह दिया है कि—

ज्ञमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

“मनका निग्रह, इन्द्रियों का काबू में रखना, तपस्या, बाहर भीतर की पवित्रता, क्षमा, नम्रता, शास्त्रीयज्ञान, आस्तिकता और शास्त्रोक्त बातों का अनुभव ये नौ गुण ब्राह्मणों में स्वभाव से ही हुआ करते हैं” (अ० १८ । ४२)। इनमें से एक एक बातों का भी आदमियों में होना जहां दुर्लभ समझा जाता है, सो भी समाज या किसी जाति भर में नहीं किन्तु व्यक्तिमात्र में, वहां किसी समाज भर में इन सब का होना कुछ कम गौरवकी बात नहीं है। यदि सब न भी पाये जायं तथापि समाज के अधिकांश लोगों में यदि ये अधिकांश गुण उस समय न पाये जाते होते तो भगवान् श्रीकृष्ण या वेदव्यास को यह कहने की कभी भी हिम्मत न होती कि ये गुण ब्राह्मणों में जन्म या स्वभाव से ही हुआ करते हैं। यहां तक बढ़कर कह देना यह बतला रहा है कि अवश्यमेव ब्राह्मण समाज पूर्वोक्त अधिकांश गुणों के रंगों में रङ्गा हुआ था। यदि ऐसी बात न होती तो अत्यन्त अल्पवयस्क ब्राह्मण बालकशृंगी के शाप का प्रभाव चक्रवर्ती परीक्षित के ऊपर अक्षरशः न पड़ता और भृगु के लात मारने पर विष्णु भगवान् को यह कहने को बाध्य होना न पड़ता कि मेरी छाती स्वभाव से ही कठिन है और ब्राह्मणों के चरण कोमल हुआ करते हैं, कहीं आपको

(२०)

चोट न आ गई हो ! यह दूसरी बात है या कालचक्र की कुटिलगति है, कि आजकल उन्हीं ब्राह्मणों के वंशधर केवल उनके नाम वैचकर पेट पाल रहे हैं !

ब्राह्मणों के इन्हीं पूर्वोक्त गुणों पर मुग्ध होकर सम्पूर्णा प्रजा उनके हाथ में सौंपी गयी थी, छोटे से बड़े तक के ऊपर उनका आतंक छाया था और सभी उनकी आज्ञा में थे । जैसा कि मनु ने कहा है-

प्रतापतिर्हि वैश्याय मृष्ट्वा परिददे पशून् ।

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥

“भगवान ने वैश्य को उत्पन्न करके पशु पालन का कार्य उसे सुपुर्द किया और ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के हाथ में सम्पूर्णा प्रजाओं को दे दिया ” (अ० ६।३२७) । और भी कहा है कि—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।

श्रेष्ठयेनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥

“इस पृथिवी में जो कुछ है, सब ब्राह्मणों की ही सम्पत्ति है; क्योंकि, वह भगवान के मुख से उत्पन्न होने के कारण श्रेष्ठ होने से सभी कुछ पाने योग्य है ” (अ० १।१००) । जब ब्राह्मणों में इतनी योग्यता थी तो शूद्र आप ही आप उनकी सेवा में तत्पर रहते थे । क्योंकि आज भी देखते हैं कि यद्यपि महात्मा गांधी ब्राह्मण नहीं हैं, फिर भी लोग किसी ब्राह्मण नेता की अपेक्षा उनकी प्रतिष्ठा या सेवा कम करते नहीं दीखते । सभी उनके नाम पर बलि होने के लिये तत्पर हैं । फिर यदि ब्राह्मणों के पूर्वोक्त अपूर्व गुणों के कारण शूद्रसमाज उनकी सेवा में अपना समय बिताता था, या उसी के लिये स्वेच्छया बाध था तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? हाँ, आज कल के लोगों की अवश्य ग़लती है कि योग्यता तो इनमें कुछ भी नहीं है, फिर भी संसार से सेवा ही करवाने की धुन में मस्त रहते हैं । इसके लिये यदि ये लोग अपराधी ठहराये जाएँ तो कुछ अनुचित

(२१)

नहीं। पर इतनेसे ही प्राचीन काल के धर्मशास्त्रकर्ताओं को यहाँ दोष नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने शूद्रों या इतर वर्णों के साथ अन्याय वा कड़ाई अधिक की। हाँ, यदि आँख मीचकर सभी बुरे भलों की बन्दगी बजाने का आदेश शूद्र समाज को दिया गया होता तो अवश्यमेव वे लोग भी दोष के भागी समझे जाते। लेकिन ऐसा तो हुआ नहीं। अतएव मनुने लिखा है कि—

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।

शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥

“वेद वेदांगों के ज्ञाता ब्राह्मणों तथा यशस्वी गृहस्थों की सेवा ही शूद्रों के लिये परम कल्याणकारक धर्म है” (अ० ६।३३४)। फिर जिन लोगों का यशःसौरभ संसार में व्याप्त नहीं और जो वेद शास्त्रों के जानकार नहीं, चाहे किसी भी वर्ण के क्यों न हों, वे क्योंकर शूद्रों या अपने से हीन वर्णों द्वारा की जाने वाली सेवा का दावा कर सकते हैं? यह उन लोगों की सर्वथा अनधिकारचर्चा है। जब ब्राह्मण लोग, वेदाभ्यास करके कर्त्तव्यअकर्त्तव्य के ज्ञानोपदेश द्वारा, क्षत्रिय बाहरी अथवा घरेलू शत्रुओं से रक्षा करके, और वैश्य सभी को भोजनार्थ अन्न दे कर हिन्दू समाज की सेवा कर रहे थे, जैसा कि—

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।

वार्त्ता वैश्यस्य कर्मैव विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥

“अन्य कामों की अपेक्षा ब्राह्मणों का प्रधान काम वेदाभ्यास, क्षत्रिय का रक्षा करना और वैश्यों का वाणिज्यादि द्वारा अन्नोत्पादन है” (मनु अ० १०।८०) से विदित है, तो फिर शूद्र क्यों नहीं सेवा करते? अस्तु।

यद्यपि ब्राह्मणों का प्रधान काम वेदाभ्यास था, तो भी देखना चाहिये कि आखिर उनके अप्रधान काम कौन से थे और जीविका

के लिये सर्वथा पराधीन ही थे या स्वाधीन । इस सम्बन्ध में मनु गौतमादि की आज्ञा ऐसी है कि ब्राह्मण सर्वथा परमुखापेक्षी न हो कर अपनी प्राणरक्षा के लिये शिल, उच्छ्र, कृषि, वाणिज्यादि द्वारा और उससे भी न हो सके तो पुरोहिती प्रतिग्रहादि द्वारा अन्न का उपार्जन करले । अतएव मनुस्मृति के चौथे अध्याय, जो अनापत्ति (कोई आपत्ति या दवाव न रहते) समय के धर्मों का प्रकरण है, के आरम्भ में पुरोहिती प्रतिग्रहादि का वर्णन न कर केवल शिल, उच्छ्र, कृषि, वाणिज्यादि का ही विधान ब्राह्मणोंके लिये है । जैसा कि—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।

सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥

ऋतमुच्छ्रशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।

मृतं तु याचितं वैश्यं प्रमृतं कर्षणं मतम् ॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।

सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥

“ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत नामक जीवनोपायों द्वारा जीविका अर्जन करे, परन्तु श्वानवृत्ति (नौकरी) द्वारा कदापि नहीं । ऋत, उच्छ्र एवं शिल का नाम है, अमृत अयाचित का, याचित भिक्षा का मृत, कृषिका प्रमृत, सत्यानृत वाणिज्य का, और श्ववृत्ति नाम नौकरी का है । इसी से उसको त्याग देना चाहिये” (अ० ४ । ४-६) । बहुतों की यह धारणा है कि कृषि वाणिज्य केवल वैश्य की ही जीविकायें हैं । पर यह धारणा भ्रममूलक है । कृषि वाणिज्य प्रत्येक दो २ प्रकार के होते हैं । एक “स्वकृत”—अपने हाथों किये गए और दूसरे “अस्वयं कृत”—नौकर द्वारा कराए गए । उन में दूसरे प्रकार के अर्थात् “अस्वयं कृत” ब्राह्मणोंके लिये हैं और “स्वयंकृत” वैश्यों के लिये । यह बात इन्हीं श्लोकों की टीका में

(२३)

कुल्लुक भट्ट को भी स्वीकृत है। अतएव गौतमस्मृति के दसवें अध्याय में साफ साफ यही लिखा गया है कि ब्राह्मणोंकी जीविकाएं “कृषि वाणिज्ये स्वयं चाकृते कुसीदं च” “अस्वयंकृत कृषि, वाणिज्य और सूद पर रुपये देना ये तीन हैं।” इसीलिये आश्वलायन गृह्य सूत्र (२।१०।३) में ब्राह्मणों के नित्य नैमित्तिक आदि बहुत से कर्मों के कहने के बाद जब उनमें अपेक्षित अन्न द्रव्य की प्राप्ति कैसे होगी, यह आशंका हुई तब सूत्रकार ने कहा है कि—

क्षेत्रं प्रकर्षयेदुत्तरैः प्रोष्ठपदैः फाल्गुनीभी रोहिण्या वा ।

“उत्तर भाद्रपद, पूर्वा फाल्गुनी और रोहिणी नक्षत्र में हल चलवाना प्रारम्भ करे” । इसीपर गार्ग्य नारायण लिखते हैं कि—

नित्यकर्मणां द्रव्यसाध्यात्वादद्रव्यार्थं क्षेत्रं प्रकर्षयेत् ।

णिचप्रयोगः स्वयंकृषिनिवृत्त्यर्थः । तथाचानापदि गौतमः ‘कृषिवाणिज्ये चास्वयं कृते’ इति । मनुरपि ‘ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा’ ‘प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्’ इति । अक्षसूक्ते चयमेव वृतिरुक्ता ‘अक्षैर्मादीव्य कृषिमित्कृषस्व’ इति । प्रतिग्रहादयश्चापत्करणाः ॥

“नित्यकर्म द्रव्य से होते हैं, इसलिये अन्न द्रव्यादिकी प्राप्तिकेलिये खेत जुतवावे । “खेत जोते” न कहकर “जुतवावे” यह जो प्रेरणा की गई है उसका तात्पर्य अनापत्तिकाल में अपने हाथों से खेती न करने में है । इसीलिये अनापत्तिकाल के लिये गौतमस्मृतिमें कहा है कि नौकर से खेती और व्यापार करवावे । मनुजी ने भी श्रुत, अश्रुत, मृत, प्रमृत से जीविका करना लिख कर प्रमृत का अर्थ खेती लिखा है । ऋग्वेद के अक्षसूक्त में भी यही बात लिखी है कि जूआ मत खेलो, खेती ही करो । ब्राह्मण की जीविका के लिये जो कहीं कहीं प्रतिग्रह, पुरोहिती आदि लिखी है वह आपत्तिकाल के लिये है” ।

(२४)

पारस्कर गृह्यसूत्र (कां० २ करिडका १३) के “ पुरयाहे लांगलयोजनं ज्येष्ठया वा इन्द्रदैवत्यम् ” “ शुनं सुफाला इतिकृषेत् ” “ फालं वा आलमेत् ” । इत्यादि सूत्रों द्वारा करिडका भर में कृषि करने का ही विधान है । इसी प्रकार कौशिक सूत्र (३-३) में इसी बात का निरूपण पाया जाता है । यही सिद्धान्त मीमांसा वार्त्तिककार कुमारिल स्वामी का भी इसी सूत्र की कारिकाओं में स्पष्टतया प्रतिपादित है । महामहोपाध्याय श्री पार्थसारथि मिश्र ने भी मीमांसा वार्त्तिक की टीका ‘तंत्र रत्न’ में यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जैसा कि ‘विस्तर’ के २६, ३० पृष्ठों से स्पष्ट है ।

ऋग्वेद में किसी भी प्रतिग्रह पुरोहिती आदि जीविकाओं का वर्णन न होने पर भी कृषि के करने की आज्ञा स्पष्ट दी गई है । जैसा कि अक्षलूक की दो ऋचाओं से स्पष्ट है, जिनमें प्रथम ऋचा इस प्रकार है—

अक्षर्मा दीव्य कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।

तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥

“हे जूआ खेलने वाले, जूआ मत खेलो, किन्तु खेती ही करो और उसके द्वारा उपार्जित धन का भोग करो । देखो, उस खेती के लिये गायें और स्त्री बच्चे भी रखने हों पड़ते हैं । हमारी इस बात में विश्वास करो, यही धर्म का रहस्य है और सब के प्रेरक तथा सब धर्म ग्रन्थों के रचयिता भगवान ने ही हमसे यह कहा है (७-८-१३) ” । इससे पूर्व के मन्त्र में यह कह कर जूए का निषेध किया गया है कि वह इसी कृषि (खेती) का नाश करने वाला है, जैसा कि—

अक्षस इदंकुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापायिष्णवः ।

कुमार देष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य वर्हणा ॥

(२५)

“ जूप के पाशे ही अंकुश की तरह मनुष्यों के दिल में खुमने वाले, कृषि करने वाले पुरुष की खेती के नाश करने वाले, हारने पर अपने को, तथा सर्वस्व हारने पर कुटुम्ब को भी दुख देने वाले, कदाचित जीत होने पर पुत्रोत्पत्ति के समान सुखद, परन्तु मधुमिश्रित विष की तरह, खिलाड़ी की उसमें बार बार प्रवृत्ति कराके उसके सत्यानाश करने वाले हैं” (८-७-७)। इन दोनों मन्त्रों में कृषि की ही प्रशंसा है। अतएव इन मन्त्रों का देवता कृषि ही है, जैसा कि अनुक्रमणिका लिखते हुये सायणाचार्यने कह दिया है कि “सप्तमी त्रयोदशी च कृषिं स्तौति अतस्तयोः सा देवता”। —“ सातवीं तथा तेरहवीं ऋचा कृषि की स्तुति करती हैं, इसलिये इन दोनों का देवता कृषि ही है ” (८-७-१)।

अथर्ववेद (कां० ३, अनु० ४) के द्वितीय सूक्त में केवल-कृषि करने और हल जोतने आदि की ही बात कही गई है। सायणाचार्य भाष्य में लिखते हैं कि-

“ सीरायुञ्जन्ति ” इति द्वितीयसूक्तेन कृषिनिष्पत्तिकर्मणि क्षेत्रं गत्वा युगलांगले वध्नाति । अनेनैव सूक्तेन दक्षिण-मनङ्वाहं युगे युनक्ति । ततः कर्त्ता अनेन सूक्तेन प्राचीनं कृषन् सूक्तसमाप्त्यनन्तरं हालिकाय हलं प्रयच्छेत् — “सीरा युञ्जन्ति” इत्यादि द्वितीय सूक्त पढ़ कर खेती के समय खेत में जा जूप और हलको जोड़े । फिर इसी को पढ़ कर जूप में पहले दाहिना बैल जोड़े, पीछे बाया और इसी को पढ़ता हुआ खेत का स्वामी पूर्वमुख जोते, तथा सूक्त की समाप्ति होने पर जोतने के लिए हल हलवाले को देदे” । इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद के १२ वें अध्याय के ६७ आदि मंत्रों द्वारा भी कृषिकर्म का ही विधान किया गया और जोतने आदिकी विधि बताई गई है।

मनु(अ० ११-७) तथा याज्ञवल्क्य (आ० अध्या० १२४) से स्पष्ट है

(२६)

कि कम से कम तीन वर्षों तक अपने कुटुम्ब एवं नौकर चाकर के भरण पोषण का सामान जिसके पास हो वही ब्राह्मण ज्योतिषोम (सोम) योग करे और कम से कम एक वर्ष भर की खाद्यसामग्री रहने पर ही दर्शपूर्णमास आदि यज्ञ करने की आज्ञा है । इस नियम का उल्लंघन करने पर उसके किये कर्म निष्फल बताए गए हैं । यह भी स्मरण रखने की बात है कि ये पूर्वोक्त कर्म नित्य (अर्थात् अवश्य कर्तव्य) एवं नैमित्तिक (अर्थात् आवश्यकतानुसार समय समय पर कर्तव्य) दोनों प्रकार के हैं । नित्य सोमयज्ञ प्रतिवर्ष और दर्श पूर्णमास प्रतिमास करने पड़ते हैं । जैसा कि मनु (अ० ४ । २५-२६) से स्पष्ट है । इससे विदित होता है कि उस समय सामान्यतः सभी ब्राह्मण सम्पन्न थे । यह भी सभी जानते हैं कि इतनी धन सम्पत्ति कृषि वाणिज्य के बिना हो ही नहीं सकती । यही बात मनु (अ० ४ । ७६) तथा याज्ञवल्क्य (अ० १२८) के देखने से भी स्पष्ट है । वहां वे लोग दिखलाते हैं कि ब्राह्मणों के पास बड़ी बड़ी कोठियों और खत्तियों में वर्षों तक के लिये अन्न भरे पड़े रहते थे । यह बात पुरोहिती प्रतिग्रहादि से कभी नहीं हो सकती—सर्वथा असम्भव है । इसी लिये पुरोहिती प्रतिग्रह को आपद्धर्म के प्रकरण दसवें अध्याय में मनुने ही लिखा है, जैसा कि ७४—७८ श्लोकों से विदित है । अतएव प्रतिग्रह की निन्दा भी बड़े जोर शोर के साथ की गई है, जैसा कि—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् ।

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥

“विद्या तप आदि से युक्त होने के कारण प्रतिग्रह की सामर्थ्य रखता हुआ भी ब्राह्मण प्रतिग्रह प्रेमी या प्रतिग्रह का अवसर हँदने वाला कभी न बने, क्योंकि प्रतिग्रह से शीघ्र ही इसके ब्रह्मतेज का

(२७)

नाश हो जाता है" (अ० ४ । १८६) । अध्यात्मरामायण, श्रीमद्भागवत, महाभारत और अत्रिस्मृति आदि ग्रन्थों में भी सहस्रशः प्रतिग्रह की निन्दाएं पाई जाती हैं, जैसा कि 'विस्तर' से स्पष्ट है । इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि उन दिनों पुरोहिती आदि को वह गौरव प्राप्त न था जैसा कि आजकल है । प्रायः ब्राह्मण लोग इसे अच्छी बात न समझ लेती और वाणिज्य को ही उत्तम समझते और उन्हीं द्वारा जीवननिर्वाह किया करते थे । हां, जब और कोई उपाय न सूझता था तो हार कर या किसी बड़ी बातके लोभ से उसमें भी प्रवृत्त हो जाते थे । इसीलिये ब्राह्मणों के दो दल उस समय भी स्पष्टतया विद्यमान थे । एक तो केवल उद्भु, शिल, खेती, वाणिज्य और भूमि आदिसे जीविका करने वाला जिसे निवृत्त या अयाचक कहते थे, और जो आजकल भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों में महियाल, तगा या त्यागी, गोलापुरी, भूमिहार, पश्चिमा, ज़मींदार, भूस्यधिकारी, जगद्वंशी, जाजपुरी, नागर और चितपावन आदि नामों से पुकारे जाते हैं । दूसरा वह जो किसी कारणवश पुरोहिती आदि द्वारा अपनी जीविका करता था और प्रवृत्त, याचक या पुरोहित कहलाता था और आज कल साधारणतया मैथिल, सर्यूपारी, कान्यकुब्ज, बंगाली, उत्कल, गौड़, सारस्वत और महाराष्ट्र आदि नामोंसे भिन्न भिन्न प्रान्तों में कहने की परिपाटी है । परन्तु प्रायः यही नियम है कि जिस प्रान्त में जो याचक या अयाचक ब्राह्मण हैं वह सभी वास्तव में एक ही मैथिल, कान्यकुब्ज, गौड़ या सारस्वत दल के हैं । केवल जीविका के उपाय भिन्न भिन्न होने के कारण पृथक् पृथक् नामों से पुकारे जाते हैं । इसी लिये देखते हैं कि जो केवल कृषिकर्म पर निर्भर होने से कभी भूमिहार या पश्चिमा कहलाता है वही कभी पुरोहिती करने पर मैथिल कहा जाता है । इसी तरह मैथिल भी पुरोहिती छोड़ देने मात्र से ही ज़मींदार, भूमिहार या पश्चिमा कहलाने लगता है । यही बात त्यागी और गौड़ों की भी है ।

(२८)

इसके दृष्टान्त सभी प्रान्तां में पाये जाते हैं और 'विस्तर' में भी इसका सविस्तर विचार किया गया है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि ब्राह्मणों के ये मैथिल, कान्यकुब्ज, सूर्यपारी, गौड़, भूमिहार, महियाल, त्यागी या महाराष्ट्र आदि नाम प्रथम न थे। यह दलवन्दी और उन दलों के नाम आधुनिक हैं। इसलिये प्राचीन ग्रन्थों में केवल याचक अयाचक, त्यागी ग्राही और प्रवृत्त निवृत्त यही नाम क्रमशः दोनों दलों के पाये जाते हैं। जैसा महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि—

ब्राह्मणा द्विविधा राजन धर्मश्च द्विविधः स्मृतः ।

प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥

“हे राजा, ब्राह्मण दो प्रकारके होते हैं, प्रवृत्त और निवृत्त (याचक और अयाचक)। इस लिये उनके धर्म भी दो प्रकार के हैं, पुरोहिती प्रतिग्रह आदि में प्रवृत्ति (उसे ही करना) और उससे निवृत्ति (उसे न कर शिल, उखड़, कृषि आदि करना)। उन दोनों प्रकार के ब्राह्मणों में मैं निवृत्त (अयाचक या त्यागी) हूँ” (अ० १६६-३६)। इसी लिये उस ब्राह्मण ने राजा इक्ष्वाकु को बड़ी फटकार सुनाई है और कह दिया है कि दान उन लोगों को दो जो लेने के लिये लालायित हैं, मैं तुम से कुछ भी नहीं ले सकता। प्रत्युत यदि तुम्हें कुछ चाहता हो तो मैं ही दूँ—

तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिप ।

अहं न प्रतिगृह्णामि किमिष्टं किं ददामि ते ॥ ४० ॥

इसलिये यदि उस समय अयाचक ब्राह्मणों को दान न लेने का गौरव था, इसे वे लोग उत्तम कार्य समझ अपने को श्रेष्ठ समझते थे, तो उचित ही था। क्योंकि ब्राह्मण समाज या हिन्दू समाज मात्र की

दृष्टि में वह कोई अच्छा काम न था । उसके करनेसे लोग उच्च समझे जाने के बदले हीन ही समझे जाते थे । अतः प्रथम तो समाज द्वारा दान त्याग का आदर होता था और दूसरे वह शास्त्रोक्त था । ऐसी दशा में उस में अभिमान न रखना ही भूल होती । परन्तु इस समय अविद्या के कारण हिन्दू समाज की दृष्टि ही निराली है । अब समाज उसी निन्दिततम पुरोहिती प्रतिग्रह को ब्राह्मणों का परम चिन्ह और श्रेष्ठ कर्म समझता है ! और समाज में रहना भी आवश्यक है । ऐसी दशा में समाज का नियम बाध करती है कि उससे घृणा न की जाय । प्रत्युत आवश्यकतानुसार उसे स्वीकार किया जाय । नहीं तो समाज में अप्रतिष्ठा का होना दुर्निवार है, जैसा कि देखा भी जाता है । मनुष्य को समयानुसारी (Up to date) होना भी चाहिये । अस्तु !

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उस समय प्रतिष्ठा देखा देखी अन्धपरम्परा के अनुसार न होकर शास्त्रीय बातों के अनुसार ही होती थी । जिसमें शास्त्रीय बातों की जितनी ही अधिक मात्रा पाई जाती थी उसकी उतनी ही प्रतिष्ठा थी । जैसा कि—

न हायनैर्न पलितैर्न विचेन न बन्धुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

“अवस्था अधिक हो जाने, बाल सफेद होने, अधिक धन होने, अथवा बड़ा परिवार होने से कोई भी श्रेष्ठ नहीं कहलाता या श्रेष्ठ नहीं माना जाता था । किन्तु ऋषि लोगों ने यही मान रक्खा था कि हम लोगों में जो ही वेद वेदांगों का ज्ञाता हो वही बड़ा और पूज्य है” (मनु० अ० २।१५४) । इसी लिये यही सर्वसम्मत सिद्धान्त सा हो रहा था कि—

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।

कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तमुखाय च ॥

“यह ब्राह्मण का शरीर नीच वा छोटी छोटी बातों के करने के लिये नहीं है, किन्तु इस लोक में कठिन तप करने और उसका फल स्वरूप परलोक में अनन्त सुख भोगने के लिये है ” (भा० ११। १७।४२) । इसी लिये कृषि आदि के करने वाले भी ब्राह्मण उसमें इतने संलग्न नहीं हो जाते थे कि वेद वेदांगों का पढ़ना पढ़ाना ही छोड़ दें । किन्तु समय समय पर दोनों ही क्रिया करते थे । लेकिन कोई ऐसा अवसर आजाता कि जिससे खेती के कारण वेदों का पढ़ना पढ़ाना छूटता हो तो उस समय खेती भले ही छोड़ देते थे, परन्तु वेदों को नहीं; क्योंकि उनका पढ़ना उन्हें प्राणों से भी प्यारा था । इसी से खेती छोड़ भूखों रहना तक पसन्द कर लेते थे यदि ऐसा मौका आजावे, जैसा कि—

वेदः कृषिविनाशाय कृषिवेदविनाशिनी ।

शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत् ॥

“निरन्तर खेती में ही लगे रहने से वेदों का पढ़ना पढ़ाना प्रायः छूट जाता है और निरन्तर वेदों में लगे रहने से खेती भी छूट जाती है । अतः यदि अपने अपने अवसर पर दोनों को कर सके तो दोनों ही करे । यदि नहीं, तो खेती भले ही छोड़ दे, पर वेद को न छोड़े ” (बौध्वा० स्मृति० ५।१।१०१) से स्पष्ट है । पर ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता है कि केवल याचक या अयाचक; पुरोहित या यजमान, गुरु वा शिष्य अथवा मैथिल, कान्यकुब्ज, गौड़, पश्चिम, भूमिहार, जमींदार या त्यागी कहलाने से ही कोई उस समय श्रेष्ठ माना जातो रहा हो, जैसा कि आज कल आंखों देख रहे हैं । हिन्दू समाज या ब्राह्मणों में ही गुरु पुरोहित आदि की प्रतिष्ठा इस लिये नहीं होती थी—उन्हें माना या प्रणाम आदि इस लिये नहीं किया जाता था—कि वे पुरोहित या गुरु हैं, किन्तु केवल इस लिये कि उन में विद्या और तप है । उन्हें भोजन कराने

(३१)

या कुछ देने के समय यदि लोग उनकी पूजा या उन्हें प्रणाम करते थे, तो इस का यह अर्थ कदापि नहीं कि इतने ही मात्र से पूजा काल से अन्य समय भी वह लोग प्रणाम आदि के योग्य हैं। अन्य समय में तो उन्हें प्रणाम आदि तभी किया जा सकता है जब कि उन में विद्या, तप आदि रूप योग्यता हो, अन्यथा नहीं। यही पूर्व प्रदर्शित वाक्य का आशय है। हिन्दू समाज में तो यह नियम है कि जिस किसी को कुछ दिया जाय उसको पूजन तथा प्रणाम पूर्वक ही दिया जाय। इसी लिये कन्यादान के समय दामाद की भी पूजा की जाती है, एवं शय्यादान के समय महापात्र की। पर इतने ही मात्र से वे लोग यह दावा नहीं करते या कर सकते कि उन्हें सर्वदा ही प्रणाम करना चाहिये और न ऐसा किया ही जाता है। वस, यही नियम सब स्थानों में समझ लेना चाहिये। यदि सिर्फ गुरु या पुरोहित होने मात्र से हर हालत में पूजन, प्रणाम की योग्यता वा अधिकार माना जाता तो महाभारत के उद्योगपर्व में परशुराम के साथ युद्ध करते समय भीष्म परशुराम के प्रति यह क्यों कहते कि—

गुरोरप्यवलितस्य कार्याकार्यमजानतः ।

उत्पथप्रतिपन्नस्य न्यार्यं भवति शासनम् ॥

“गुरु भी यदि अभिमानी होजाय, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य न जाने या शास्त्रविरुद्ध आचरण करे तो उसका दण्ड करना ही उचित है” (उ० १७६-२४) ? यही बात वाल्मीकि रामायण अयोध्याकांड तथा महाभारत के आदिपर्व एवं शान्तिपर्व में भी लिखा गई है।

इस प्रकार पूर्वप्रदर्शित संक्षिप्त विचारों से स्पष्टतया सिद्ध है कि हिन्दू समाज में ब्राह्मणों का स्थान प्राचीन काल में अत्यन्त ऊंचा था और उसके कारण केवल विद्या, तप और सदाचार ही थे।

ब्राह्मण समाज की स्थिति ।

❀ उत्तरार्द्ध ❀

आधुनिक अधःपात ।

मधुकर ! मा कुरु शोकं विहर करीरद्रुमस्य कुसुमेषु ।

घनतुहिनपातदलिता कथं सा मालती प्राप्यते ॥ (सुभा०)

पूर्वार्द्ध में जिस प्राचीन छटा का दृश्य दिखलाया गया है, ठीक उसका उलटा इस समय हो रहा है। भूदेवों की आधुनिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही है। इसका यथार्थ चित्र किसी कवि के इन वाक्यों द्वारा दूबहू खोंचा गया है—

वह बुलन्दी यह तबाही ! वह जलाल और यह ज़वाल !!

सज्जनो मनमें विचारो, होगया कैसा हवाल !!

जिन महानुभावों के नेत्रों के सम्मुख उस गतगरिमा का चित्र होगा उन्हें अवश्य आशा होगी कि ब्राह्मणसमाज कितना भी अवनत क्यों न होगया होगा, फिर भी उसमें उन प्राचीन गुणगणों की झलक अवश्यमेव होगी। क्योंकि, “सड़ा भी हाथी नौ लाख का”। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि विहारी के ही इन शब्दों में उन्हें भारी निराशा का सामना करना पड़ेगा कि—

जा दिन देखे वे कुसुम गई सुवीति बहार ।

अब अलि रही गुलाब में अपत कंटीली डार ॥

जिन विप्लों में प्रथम एकता थी, “तीन तेरह” अथवा “तीन कनौजिया तेरह चौके” की बात न थी; जिनमें ऊं नीच

भाव केवल योग्यता पर-क्रिया पर-अवलम्बित था। उन्हीं में आज "अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग" हो रहा है। हम अमुक हैं इसलिये बड़े हैं और तुम छोटे, हम कुलीन हैं और तुम नहीं, फिर समानता कैसी ? हमारी मर्यादा बीस विस्वा है, तुम्हारी उन्नीस ही, फिर हमारा तुम्हारे साथ खान पान कैसा ? इत्यादि बातें ही दृष्टिगोचर हो रही हैं ? सारांश "हमारे दादा ने भी खाया था, हमारा हाथ सूंघ लो" वाली कहावत ही अक्षरशः चरितार्थ हो रही है। "कान्यकुब्जाद्विजाः सर्वे" वाला सिद्धान्त प्रथम सर्वत्र व्यापक था, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रथम ब्राह्मणमात्र का निवास स्थान केवल कान्यकुब्ज देश अथवा ब्रह्मावर्त्त और ब्रह्मर्षि देश था, जैसा कि मनुस्मृति (अ० २ श्लो० १७-२०) से स्पष्ट है। इससे यह मतलब नहीं निकाला जा सकता कि आधुनिक कान्यकुब्ज ब्राह्मण इतर ब्राह्मणों से इसी लिये श्रेष्ठ हैं कि प्रथम के सभी ब्राह्मण उन्हीं के देशवासी हैं। किन्तु इससे सिर्फ ब्राह्मण मात्र की एकता सिद्ध होती है। इस एकता के आज भी दो प्रबल, अकाट्य और प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रथम यह कि आजकल जो ब्राह्मणों के सैकड़ों दल हो गए हैं उनकी वंशावलि यां यदि देखी जाय या उन उन दलों के जानकारों से पूछा जाय तो विदित हो जायगा कि समान गोत्रवालों के, फिर वह चाहे कनौजिया, गौड़, महाराष्ट्र, मैथिल या भूमिहार, त्यागी आदि किसी नाम के हों, प्रवर, शाखा, सूत्र, वेद, देवता, पाद और शिखा एक ही हैं। यह कैसी विचित्र बात है कि दो ब्राह्मण जो इस समय एक दूसरे से कई सौ कोस दूर रहते हैं तथा सारस्वत और बंगाली आदि भिन्न २ नामों से पुकारे जाते हैं, एवं आचार व्यवहार में भी एक दूसरे से बिल्कुल ही विपरीत हैं, प्रश्न करने पर एक ही ऋषि को अपने गोत्र और प्रवर का प्रवर्त्तक मानते हैं और यह भी कहते हैं कि उनका वेद, शाखा और सत्र भी एक ही है !

इससे यही प्रकट होता है, कि किसी समय में उन दोनों के पूर्वज एक ही स्थान पर निवास करते, एक ही ऋषि से उत्पन्न हुए, एक ही वेद की एक ही शाखा और उस शाखा सम्बन्धी एक ही श्रौत्र या गृह्यसूत्र को पढ़ते थे, सो भी अल्पकाल तक ही नहीं, किन्तु सुदीर्घ काल तक। इसी से परस्पर अत्यन्त दूर रहने पर और सहस्रों वर्ष बीतने पर भी उसकी स्मृति आज तक ज्यों की त्यों बनी है, चाहे वह बात अब प्रत्यक्ष नहीं है ! यदि अल्प समय का ही अभ्यास रहता तो वह इस सुदीर्घ काल के गर्भ में कभी का विलुप्त होगया होता। इससे भी मार्के की बात देवता, शिखा एवं पाद की एकता है, जो यह बता रही है कि उन के पूर्वज किसी एक ही इष्टदेव की पूजा करते थे और पूजा काल में या अन्य समय प्रथम एक ही (दाहिना वा बायां) पांव धोते तथा एक ही (दाहिनी या बाईं) ओरसे घुमा कर शिखा बांधते थे, यद्यपि आज भिन्न २ देवताओं की पूजा करते हैं और उनकी शिखा और पाद का तो कोई नियम ही नहीं है। यह पिछली तीन बातें तो बिना एक स्थान में रहे और एक ही उपदेशक की शिक्षा पाये कथमपि सम्भव नहीं हैं। यह तो हो ही नहीं सकता कि सहस्रों कोस के फासले पर एक ही गोत्र प्रवर वाले रहें और एक ही वेद पढ़ें और केवल उन्हीं के देवता, शिखा और पाद एक रहें न कि दूसरे वेद पढ़ने वालों के भी। यदि उपदेशक स्थान स्थान में भ्रमण कर इस का प्रचार करते तो फिर एक स्थान के भिन्न भिन्न वेद पाठियों के भी देवता आदि एक ही हो जाते। साथ ही जब एक वेद वाले कुछ और कहलाते और दूसरे वेद वाले अन्य, तो फिर इतनी दृढ़ता कदापि नहीं होती, जिसकी स्मृति सहस्रों वर्ष बाद भी सम्प्रति बनी है। ऐसी समानता जब आज रेल तार के समय में भी असम्भव सी है तो फिर, जब यह बातें नहीं थीं तब, कैसे हो सकती थीं ?

दूसरा प्रमाण उस प्राचीन एकता का ब्राह्मणों के विभिन्न दलों में परस्पर विवाह सम्बन्ध और खान पान है जो किसी न किसी रूप में इस गये गुजरे जमाने में भी थोड़ा बहुत पाया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्प्रति ब्राह्मणों के जो दो बड़े विभाग गौड़ तथा द्राविड हैं और फिर प्रत्येक में जो गौड़, त्यागी, सारस्वत, महियाल, कान्यकुब्ज, सूर्यपारी, मैथिल, भूमिहार, उत्कल, बंगाली आदि तथा तैलंग, द्राविड़, महाराष्ट्र, कार्णाटक और गुर्जर आदि हैं, जहाँ तक जाँचने से विदित हुआ है, ये लोग परस्पर विवाहादि द्वारा मिले हुये हैं। यद्यपि सभी दलों का मेल परस्पर नहीं है और जिनका है भी उनका भी सब जगह नहीं है, तथापि एक ब्राह्मण दल का जहाँ छोर है, जहाँ उसका अन्त होता है तथा जहाँ से दूसरे दल का प्रारम्भ है वहाँ एक दूसरे का विवाहादि द्वारा मेल है। दृष्टान्त के लिये कह सकते हैं कि फर्रुखाबाद, मैनपुरी और इटावा आदि जिलों में जहाँ कान्यकुब्जों तथा खनाढ्यों का छोर है, परस्पर विवाह आदि होते हैं। इसी प्रकार सुलतानपुर और प्रयाग आदि जिलों में कान्यकुब्जों और सूर्यपारियों का परस्पर तथा दोनों का भूमिहारों के साथ खान पान एवं विवाह सम्बन्ध है, तथा मिथिला में भूमिहारों और मैथिलों में भी परस्पर यही बात है, जैसा कि 'ब्रह्मर्षि वंश-विस्तर' के १६३—१६४ पृष्ठों से स्पष्ट है। इसी प्रकार बंगाल के मुर्शिदाबाद और जैसोर आदि जिलों में जो जिम्नौतिया, कान्यकुब्ज या भूमिहार आदि हैं उनका भी परस्पर ऐसा ही सम्बन्ध 'विस्तर' के ३६७—३६८ पृष्ठों से विदित है। यह भी स्मरण रहे कि यह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि एक समाज की वेचल लड़कियों का ही, दूसरे समाज के लड़कों के ही साथ हो, किन्तु जिन समाजों का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है उनके लड़के लड़की दोनों का ही है, सो भी एक दो नहीं, बहुत बड़ी संख्या में, अस्तु। इसी

(३६)

प्रकार दिल्ली, सहारनपुर तथा रोहतक आदि जिलों में त्यागियों और ग्राही गौड़ों के भी पारस्परिक विवाह आदि होते हैं, तथा पंजाब के कुछ जिलों में सारस्वतों एवं सहियालों के भी। यही बात विद्यारत्न पं० दुर्गादत्त द्विवेदी शास्त्री ने "ब्राह्मण भेद विचार" नामक ग्रन्थ में इस प्रकार लिखी है:—

“अब इसके आगे एक और भी भेदनाशक तथा एकता सूचक प्रत्यक्ष प्रमाण निवेदन किया जाता है। जो नामधारी ब्राह्मण समुदाय जिस देश में बसता है वह समूह अपनी वाससीमा की सन्धि में एक दूसरे नाम वाले के साथ रोटी बेटी सम्बन्ध से मिला हुआ है। जैसे सारस्वत देश के दक्षिण भाग की सन्धि में रहने वाले सारस्वत नाम धारी ब्राह्मण छुन्नाति के गौड़ ब्राह्मणों के साथ रोटी बेटी सम्बन्ध से मिले हुए सुनेजाते हैं। इसी प्रकार गौड़ नामधारी ब्राह्मण जयपुर के ईशान भाग से भरतपुर तक सनाढ्यों के साथ प्रेमपूर्वक खान पान, विवाह सम्बन्ध कर रहे हैं। इसी प्रकार मैनपुरी, फर्रुखाबाद, पटा, इटावा आदि प्रदेशों में सनाढ्य और कान्यकुब्ज खान पान, विवाह में मिले हुए हैं और आगे बढ़कर कान्यकुब्ज और सयूपारी ब्राह्मण अपनी वाससीमा में पूर्व वत् मिले जुले हैं। इसी प्रकार आगे अपनी वाससीमा में सयूपारियों का थोक मैथिलों के साथ और मैथिल उत्कलों के साथ नातेदारी में फँसे हैं। दक्षिणात्य ब्राह्मण मात्र भोजन में तो सर्वत्र एक हो ही रहे हैं, परन्तु वाससीमा संधि में विवाह से भी सटे हैं। हाँ, मध्यवर्ग में एक दूसरे से दूर पड़ने के कारण विवाह सम्बन्ध कष्टसाध्य है। अत एव मध्य में अब वह रीति उठ गई है” (पृ० ४-५)।

इनका ही नहीं। सन १९२६ की गर्मियों में कान्यकुब्ज महती सभा का जो १६ वाँ वार्षिक अधिवेशन प्रयाग में जौनपुर के राजा श्रीकृष्णदत्त जी दुबे एम० एल० सी० की अध्यक्षता में हुआ था

(३७)

उसमें सर्वसम्मति से जो प्रस्ताव पास हुआ था वह उस सभा के प्रधानमंत्री रायसाहब पं० राजनारायणजी मिश्र के कथनानुसार इस प्रकार है—“समाजकी शिथिलता और विश्रंखलता को देखते हुये पारस्परिक प्रेम, ऐक्य एवं सहानुभूति के आदर्श से कान्यकुब्ज महती सभा कान्यकुब्जों के सामुदायिक संगठन की आवश्यकता समझती है और उसकी पूर्ति के लिये समस्त कान्यकुब्जों से अनुरोध करती है।

सरयूपारीण, सनाढ्य, जुझौतिया, भूमिहार, पर्वतीय, बंगाली, गुजराती आदि समुदायों में एक बहुत बड़ा भाग अपनेको कान्यकुब्ज मानता है। किन्तु इस समाज में उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने से बृहत् कान्यकुब्ज समाज के संगठन में बाध पड़चती है। अतः सामुदायिक संगठन की दृष्टि से कान्यकुब्ज प्रतिनिधि सभा कान्यकुब्ज कहाने वाले ब्राह्मण समुदाय का संगठन कर आपस में प्रेम, ऐक्य एवं सहानुभूति बढ़ाना आवश्यक समझती है”।

उक्त सभा का २० वाँ अधिवेशन १९२७ के अप्रैल में लखनऊ में पं० उमाशंकर बाजपेयी एम० ए० एल० एल० बी० गवर्नमेंट एडवोकेट इलाहाबाद की अध्यक्षता में हुआ था। उसमें भी पुनः इसी आशय का प्रस्ताव यों स्वीकृत हुआ था—“(अ) यह कान्यकुब्ज महती सभा गत वर्ष के अधिवेशन के प्रस्ताव के अनुसार इस अधिवेशन में कतिपय सरयूपारीण एवं अन्य कान्यकुब्ज कहलानेवाले ब्राह्मणों की उपस्थिति देखकर अत्यन्त हर्ष प्रकट करती है तथा सामुदायिक संगठन के आदर्श से, और वर्तमान समय को देखते हुये सरयूपारीण, सनाढ्य, जुझौतिया, भूमिहार, पहाड़ी, बंगाली आदि कान्यकुब्जों को एकत्र कर बृहत् संगठन करने तथा उनमें पारस्परिक प्रेम, ऐक्य एवं सहानुभूति बढ़ाने के लिये इस बातकी प्रार्थना करती है कि ऊपर कहे हुये ब्राह्मण समुदाय हमारी सभा के वार्षिक अधिवेशनों में अवश्य उपस्थित होकर उचित योगदान

करें तथा इस प्रस्ताव को कार्य रूप देने में सभा के सहायक हों ।”

“(ब) यह कान्यकुब्ज महती सभा यह भी प्रस्ताव करती है कि नीचे लिखे ५ सज्जनों की एक कमेटी बनाई जाय, जिसका काम इस विषय पर सम्मति एकत्र करना हो और उन सम्मतियों के आधार पर कान्यकुब्ज समाज की एक ऐसी व्यवस्था तैयार की जाय कि किन किन आधारों पर, अथवा किस किस उपाय से उपरोक्त प्रस्ताव को अमल में लाया जा सकता है । कमेटी के सदस्य (१) माननीय पं० गोकर्ण नाथ जी मिश्र संयोजक (२) पं० रविशंकरजी शुक्ल, रायपुर (३) पं० जयदयालजी अवस्थी, लखनऊ (४) रायसाहब पं० राजनारायणजी मिश्र, इलाहाबाद, (५) पं० रघुनन्दन शर्मा, कानपुर ।”

उसी अधिवेशन के सभापति ने अपने भाषण के १२ वें पृष्ठ में कहा है कि “उसी (कान्यकुब्ज) बृहद्बंश की शाखाएँ फैल कर सनाढ्य, पहाड़ी, जुझौतिया, सरयूपारी, छत्तीसगढ़ी, भूमिहार और अनेक बंगाली ब्राह्मणों की स्थापना हुई । समय के फेर से, शीघ्र गमनागमन के साधनों के अभाव से, प्रान्त विशेष की वंश भूषा की विभिन्नता से, खान पानकी असाम्यता आदि कारणों से ऐसा भेद भाव उत्पन्न होगया कि वे एक दूसरे को भूल से गये और वह पुरानी एकता स्वप्नवत् होगई ।”

स्वागताध्यक्ष जस्टिस गोकर्णनाथ मिश्र ने भी अपने भाषण के चौथे पृष्ठ में कहा है कि “मैं अपने उस आनन्द का वर्णन नहीं कर सकता जो मुझे उस समय हुआ जब पिछले साल प्रयाग में कान्यकुब्ज महती सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि उन ब्राह्मण समुदायों को भी अपना का प्रयत्न करना चाहिये जो इस बात को मानते हैं कि वह किसी समय वास्तव में कान्यकुब्ज ही थे और अब उनकी प्राचीन शाखा होने के कारण कान्यकुब्जों से मिलने की इच्छा रखते हैं । मेरा तात्पर्य इस समय सरयूपारी, जुझौतिया तथा

(३४)

भूमिहार ब्राह्मणों से है जो ज्यादातर इस प्रान्त के पूर्वी और दक्षिणी भाग में रहते हैं ।”

आयुर्वेदाचार्य पं० सत्यनारायण जी मिश्र के सम्पादकत्व में निकलने वाले “कान्यकुब्ज हितकारी” मासिक पत्र के सन् १९२६ के दो अंकों में भी इसी बातकी चर्चा यों हुई थी—“कई बार बड़ी बड़ी सभाओं के मञ्चों एवं ब्राह्मण जाति के इतिहास वेत्ताओं के श्रीमुखों से यह मसला अब निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि सरयूपारीण, सनाढ्य, जुझौतिया, भूमिहार, पर्वतीय, वंगाली आदि सभी ब्राह्मण कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं । अब प्रश्न यह होता है कि इनका सामुदायिक संगठन कैसे हो सकता है । हमारे पाठक अभी भुले न होंगे कि प्रयाग में होनेवाला गत प्रतिनिधि सभा के वार्षिक अधिवेशन के सुअवसर पर श्री पं० चैकटेशनारायणजी तिवारी एम० ए० द्वारा प्रस्तावित तथा पं० शिवरत्नजी शुक्ल, पं० जगन्नाथजी शुक्ल तथा पं० गुरुदयालजी तिवारी द्वारा अनुमोदित एवं समर्थित एक प्रस्ताव इसी आशय की उपस्थित किया गया था” (नवम्बर पृ० २३८) ।

“श्रीकान्यकुब्ज प्रतिनिधि सभा को अपने प्रयाग में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार सभी फिर्के के ब्राह्मणों को आमंत्रित करना चाहिये । अर्थात् सरयूपारीण, सनाढ्य, वंगाली, भूमिहार आदि सभी ब्राह्मण उस अधिवेशन के अवसर पर बुलाये जायँ” (दिसम्बर पृ० २६४) ।

३ जून १९२२ के “मिथिला मिहिर” नामक मैथिलों के पत्र में एक मैथिल ने यों लिखा था—“दरभंगा संचारि कोसपूर्व, भागीरथी क ओहिपार तक दक्षिण में रहनिहार अधिकांश मैथिल लोकनि त निश्चय कलेलन्हि जे ओ लोकनि भूमिहारे थिकाह, किन्तु गौह सभ मैथिल थीक । कियेक तं हुनकालोकनि ओकरा सभसं साधारणतया सिद्धान्त भोजनादिक घनिष्ठ व्यवहार करहल छथि” । सारांश यह है कि दरभंगा से ४ कोस पूर्व से लेकर दक्षिण में गंगा पार तक के मैथिलों और भूमिहारों में कोई भेद नहीं है, दोनों का खान पान आदि

एकही साथ है ।

पर, दुर्दशा ऐसी हो रही है कि घर घर में फूट है और विद्या से—केवल संस्कृत विद्या से ही—प्रायः सम्बन्ध छूटता जा रहा है ! जो संस्कृत ब्राह्मणों की बपौती—सच्ची बपौती—थी उसे किसी ने जमींदारी और बबुआई से मदान्ध होकर लात मारी तो औरों ने—पुरोहित पुजारी और पराडोंने—शेष जनता को मूर्ख और अन्धपरम्परा का भक्त देख पुरोहिती गुरुवाई के ही मद में चूर हो उसका तिरस्कार किया ! जब गुरु, व्यास तथा पुरोहित कहलाने वालों ने अपनी एक अगल जाति ही बनाली और जब उनके मन में नीच स्वार्थ—केवल जैसे हो तैसे पैसा भटकने का स्वार्थ—समा गया एवं साथ साथ विलासप्रियता तथा आलस्य भगवान से भी घनिष्ठ मित्रता हो गई, तो उन्होंने सोचा कि कौनसा उपाय करें जिससे पढ़ने पढ़ाने के महान क्लेशसे पिराड छूटे, पैसे भी पूर्ववत् मिलाही करें और माल मारनेका भी पूरा मौका प्राप्त हो । उन्होंने युक्ति ढूंढ निकाली कि जो लोग पुरोहिती आदि कर्मों द्वारा अपने जीवन का निर्वाह नहीं करते प्रथम वह लोग ही विद्याविमुख किये जायँ । फिर तो कोई टोकने और जाँचनेवाला रहेगा ही नहीं ! इस लिये जो चाहेंगे करेंगे । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रथम यजमानों को यह कह कर पढ़ने पढ़ानेसे अलग किया कि आपको क्या कहीं पुरोहिती करनी, आचार्य बनना, पुजारी होना या पत्रा उलटना है कि आप संस्कृत विद्या के लिये माथा मारने को तैयार हैं ? इस भिखमंगी विद्या को पढ़ कर आप क्या करेंगे ? क्या भीख माँगनी है ? इत्यादि । इस प्रकार यजमान लोग संस्कृत विद्या से और अतएव कर्मकाण्ड से पूरे अनभिज्ञ हो गए ! तो फिर क्या था, थार लोगों की बन आई और रहा सहा पढ़ना पढ़ाना लगभग एकवारगी छोड़कर गुरु पुरोहित भी प्रायः निरक्षर भट्टाचार्य ही बन गए ! ६६ नहीं तो ६० प्रति सैकड़ा पेसे पुरोहित और गुरु मिलेंगे जिनका काम अधिक से अधिक दुर्गा, सत्य

(४१)

नारायण, शीघ्रबोध और मुहूर्तचिन्तामणि के कुछ ही श्लोकों के आधार पर चलता है । बाकी से वे लोग नाता तोड़ बैठे हैं ! खूबी यह है कि इन पूर्वोक्त तीन चार पोथियों का भी यथार्थज्ञान शायद ही किसी किसी को है । इस पर भी तुरा यह है कि अपने सामने किसी को कुछ समझते भी नहीं ! इसीलिये यदि कोई विद्वत् पुरुष समझाना चाहे तो उसके पास इस विचार से जाना तो दूर रहा विपरीत युद्ध के लिये कमर कस लेते हैं । यदि मूर्खतावश नष्ट अष्ट प्राचीन परिपाटी का फिर से कोई सुधार शास्त्रीय रीति के अनुसार करना चाहे तो उसकी दुर्दशा होती है ! मूर्ख शिरो-मणि पुरोहितों और गुरुओं ने अज्ञ यजमानों और शिष्यों के कान यह कहकर भर दिये हैं कि अमुक संस्कार तथा क्रिया कर्म बाप दादे के समय से ऐसा ही चला आता है, क्या आप अब नया रास्ता गढ़ेंगे ? फिर क्या है ? सुधारकों और विद्वानों की कौन सुने ? उनका उपदेश तो "नङ्कारखानेमें तूती की आवाज़ " हो जाता है—उलटे उन्हीं को उल्लू बनना पड़ता है ! एक बात यह भी देखी जा रही है कि नवरात्र के दिनों में प्रायः कृषक तथा अन्यान्य गृहस्थ किसी कामना—सिद्धि या कल्याणके लिये दुर्गासप्तशती का पाठ करवाते हैं । इसी तरह अधिकांश स्थानों में अधिमास के समय पार्थिवेश्वर की पूजा और विल्वपत्र चढ़ाने की रीति है । पर तमाशा क्या होता है कि जिन पुरोहित, गुरु कहलाने वालों को दुर्गा के श्लोक बांचने तक की भी योग्यता नहीं होती, उनकी शुद्धि-अशुद्धियों की तो बात ही न्यारी, वे भी दस पन्द्रह पाठों तक के संकल्प प्रतिदिन के लिये कर लेते हैं ! जिन्हें कुछ बांचनेकी गम है उनकी बात भी विचित्र है । चाहे जितने भी पाठ कराने के लिये यजमान खड़े हो जाँय, वे नकार करना नहीं जानते, सभीका संकल्प करा लेंगे चाहे पाठ एक ही दो करे ! इसी तरह अधिमास के पार्थिवेश्वर पूजा संकल्प को भी समझ लेना चाहिये ! चाहे दस बीस यजमानों ने अलग एक, एक

(४२)

सवा सवा लक्ष पूजन का ही संकल्प क्यों न कराया हो, पर केवल एक ही सवा लक्ष का पूजन करके दक्षिणा सभी के सिर पर सवार होकर वसूल की जायगी ! इस अनर्थ का प्रधान कारण एक तो स्वार्थी तथा अपढ़ पुरोहित आदि की, चाहे किसी भी तरह से, पैसा कमाने की दुर्बुद्धि है और दूसरे यजमानों की प्रचंड मूर्खता तथा विवेकभ्रष्टता है, जिस कारण वह यह भी नहीं विचार सकते कि जिन हज़रत से पूजा पाठ का संकल्प करवा रहे हैं आया उन में उसकी पूर्ण योग्यता भी है या नहीं, और योग्यता है भी तो प्रथम से ही और यजमानों के उसी पूजा पाठ वाले संकल्पों से लदे होने के कारण उन्हें अवकाश है या नहीं । परन्तु वे लोग अन्धपरम्पर के इस तरह वशीभूत हो रहे हैं कि उन्होंने चाहे जैसे हो उन पूजा पाठों के संकल्पों का करा ही देना अपना कर्तव्य समझ रक्खा है ! फिर चाहे पूजा पाठ हो या नहीं, यह देखना उन्हें पसन्द नहीं ! यदि किसी कारणवश कभी नहीं करा सके तो वर्षों उन्हें, और नहीं तो उनके घर की मूर्खतमा स्त्रियों को बराबर इसकी चिन्ता बनी रहती है । इस मध्य में यदि कहीं किन्हीं लड़के बच्चों को किसी रोग ने आ घेरा तो चट कल्पना कर लेती और घरवालों को निश्चय कर देती हैं कि बस, हर साल होने वाली पूजा इस वर्ष न हुई । इसी से अमुक देवी देवता रुष्ट हैं, जिससे यह कष्ट है ! भला इस अन्धेर का कहीं ठिकाना है ! यदि यजमान विचार से नहीं तो और ही कारणों से, विशेष कर आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही इस पूजा पाठ से कभी किसी तरह पिएड भी छुड़ाना चाहें तो स्वयं कई वर्षों से लगातार पैसे ठगनेवाले पुरोहित, गुरु या व्यास महाराज ही नित्य जा जा कर दरबार करते और गले पर सवार होते हैं कि यजमान, हर साल हमें कुछ मिल जाता था, इस वर्ष आप क्यों चुप हैं ? यजमान साहब एक दो दिन तो इधर उधर भागते हैं, पर

(४३)

विचार के पक्के न होने के कारण ही अन्त में हार कर, उनको कुछ करना ही पड़ता है। क्या ही लीला है ! ये पूजा पाठ सिर्फ़ ऐसे कमाने के द्वार हो रहे हैं, यजमान चाहे चूल्हे में जाय ! यदि यजमान के कल्याण की बात रहती तो फिर करने वाले क्यों उसके गले पर सवार हो नाकों दम करते ? जिसे आवश्यकता होती है वही दौड़ा करता है। यह तो नहीं देखा कि रोगी को फ़िक्र ही नहीं और वैद्य उसके पिण्ड पड़े ! और यदि ऐसा कोई करता है तो उसकी कदर ही जाती रहती है। पर, यहाँ की गंगा तो उलटी बहती है। इसे ही कहते हैं पथभ्रष्टता। धन्य रे हिन्दू समाज और धन्य रे पुरोहित, गुरु एवं व्यासों की करतूत !

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। यह पूजा, पाठ, पुरोहिती, व्यासगद्दी और गुरुआई आदि ऐसे हड़पने के व्यापार मौरूसी मान मना लिये गए हैं। यजमानों की मूर्खता से अन्यान्य लाभों के सिवाय स्वार्थी लोगों ने एक यह बड़ा लाभ निकाला है कि अपने इन पूर्वोक्त कमाने के कामों को मौरूसी या इस्तमरारी बना रक्खा है। चाहे वे मूर्ख से मूर्ख और पतित से पतित भी हो जाँय, पर पुरोहिती उनकी ज्यों की त्यों बनी रहेगी, व्यासगद्दी उनकी निष्कण्टक चली जायगी और गुरुवाई उनकी दिनों दिन वृद्धि पर ही होगी—दृढ़तर हो जायगी ! इन जगहों पर जो या जिसके बाप दादे अपनी योग्यता के कारण प्रथम किसी समय बैठ गए हैं, अथवा इच्छा न रहने पर भी जबरदस्ती बैठाये गए हैं, वही जगह उनके मूर्ख से मूर्ख और भ्रष्ट से भी भ्रष्ट लड़के वालों तथा वंशजों की बृष्पौती हो गई ! उसी की कृपा से वह नीच से भी नीच कार्य करने पर भी मील मारते और गुलछुरे उड़ाते रहते हैं ! जिस समय “पाँव पखरवाने” का प्रसंग आवेगा उस समय योग्यातिथोग्य पुरुषों के रहते हुए भी उन्हीं की खोज होगी ! उन्हीं के चरणकमल धोकर यजमान तरेंगे और उन्हीं का चरणामृत एवं चरणरज

(५४)

यजमान के पुरुषों तकको पवित्र करेगा ! इसे ही कहते हैं समय का फेर । भारतवर्ष में तीसों दिन और बारहों महीने पितृपन्न का ही अखण्ड राज्य है, जिससे हंसों का तिरस्कार कर, उन्हें न पूछकर, लोग कौओं की ही पूजा किया करते हैं ! यह तो अंधेर यहाँ देखा कि वकालत भले ही न पास हो पर मुकद्दमे की पैरवी के समय उसी की खोज होगी, और प्रवीणतम वकील धक्के खायेंगे, उनकी पूछ तक न होगी ! पूर्व समय में तो परशुराम ने कश्यप आदि को, श्री रामचन्द्र ने धर्मारण्य के वाडवों तथा वसिष्ठ को, एवं पाण्डवों ने धौम्य को, और वसुदेव आदि ने गर्ग को पुरोहित, गुरु और प्यास बनाया था । देवताओं को जब इसकी आवश्यकता हुई तो बृहस्पति को और उनके अभाव में विश्वरूपको गुरु बनाया था । यहाँ तक कि दैत्य दानवों ने भी भगवान् शुक्राचार्य को ही यह आसन दिया था न कि किसी अशिक्षित या आचारहीन को भी । पर जिस कर्म को राक्षस या दैत्य दानव भी न कर सके, जिस बात को उन्होंने भी अनुचित समझा, उसे ही करने में आज जगद्गुरु होने का अभिमान रखने वाला ब्राह्मणसमाज, ब्राह्मण दल के बाद क्षत्रियादि, तथा हिन्दूसमाजमात्र जरा भी हिचकता तक नहीं ! इसे ही कहते हैं अवनति की पराकाष्ठा । जिस काम के सम्पादनमें, जिस यज्ञ यागादि क्रिया कलाप के पूर्णतया कराने में वसिष्ठ जैसे ब्रह्मर्षि, तत्त्वज्ञानी, वेद वेदांगपारंगत समर्थ न हुए, अतएव महाराजा दशरथ को पुत्रेष्टि के लिये शृंगी ऋषि की आवश्यकता हुई, और उनके लानेका उपदेश भी स्वयं वसिष्ठ जी ने ही किया, वही काम आजकल के घोंघा पंडित, पूड़ी पाँडे और थोथा तिवारी बिना रोक टोक कराने को तैयार हैं, वेखटके करते कराते हैं, और साथ ही, किसी दूसरे विद्वत् पुरुष की सहायता भी नहीं चाहते, - से यज्ञमण्डप के भीतर आने देना उन्हें पसन्द और सहा नहीं और इसी पर उनके घमसानदास यजमान भी खुश हैं ! जिस पुरोहिती

(४५)

पद के लिये याज्ञवल्क्य ने कहा है कि—

पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम् ।

दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वगिरसे तथा ॥

—ज्यौतिषशास्त्र के ज्ञाता, विद्वान्, सदाचारी, नीतिशास्त्र के जानकार और अथर्ववेद के कर्मों में कुशल विप्र को पुरोहित बनावे” (अ० ३१३); जिस पद का महत्त्व आजकल की चकालत आदि से किसो प्रकार कम नहीं है, उसी पद पर बिना परीक्षा लिये और बिना जांचे पूछे ही भर्ती होती है ! भला इस अंधेर का कहीं ठिकाना है ! यजमानों को शांतिक पौष्टिक कर्मों की बराबर आवश्यकता बनी रहती है, और उन कर्मों का प्रधानरूप से निरूपण अथर्ववेद में ही आया है । उसके काण्ड के काण्ड केवल इन्हीं कर्मों का प्रतिपादन करते हैं । इसी से पुरोहित को उसकी पूर्ण जानकारी होनी चाहिये । पर आजकल के पुरोहित तो प्रायः जानते तक नहीं कि अथर्ववेद किस पक्षी का नाम है और उसमें क्या लिखा है । उसका दर्शन तो शायद ही किसी को मिलता है । हाँ, उसकी जगह पर, यदि कोई कोई कुछ जानते भी हैं तो, केवल व्यर्थ के एवं अधूरे तंत्र मंत्र ही, जिनसे केवल ठगी और धोखेबाजी के सिवाय दूसरा कुछ सिद्ध नहीं होता । जो झूठमूठ का भाड़ फूंक करना और खाक विभूति देना जानता है, भूत, प्रेत, चुड़िल को भाड़ता फूंकता है, ओम्मा सोखा के ठगी वाले काममें सिद्धहस्त है, लड़केवाले और धन तथा नौकरी दिलाने का ढोंग बनाता और तदर्थ तंत्र मंत्र करने का दावा रखता है, और इधर का भूत, प्रेत, उधर और उधर का इधर करने की माया दिखाता, मारण मोहन की ढोंग मारता और धमकी देता है, वही आजकल पक्का ब्राह्मण, गुरु, पुरोहित, व्यास, आचार्य और साधु संन्यासी समझा जाता है !

(४६)

जब कभी ब्रह्ममोज का अवसर आता है तो विचित्र ही लीला दृष्टिगोचर होती है। प्रायः ऐसा अवसर श्राद्ध, विवाह तथा अन्यान्य यज्ञों के समय आया करता है। उस समय लोग यह इरादा रखते हैं कि जितनी ही अधिक संख्या में ब्राह्मण के नाम पर लोगों को खिलावेंगे उतना ही अधिक धर्म होगा और पिता पितामहादि के साथ झूटपट विना रोक टोक सातवें स्वर्ग में जा विराजेंगे ! यह बात कुछ तो देखादेखी और कुछ विवेकहीन संसारकी लज्जाके मारे भी की जाती है। पर सबसे प्रबल कारण मूर्खता ही है। इसी कारण लोग यह विचारते हैं कि हमारी ही हैसियत के अथवा हम से कम ही हैसियत वाले अमुक सज्जन ने जब इतने ब्राह्मण खिलाए तो हम क्योंकि उससे कम खिलावें। ऐसा करनेसे संसारमें हंसी भी होती है। पर, कहा क्या जाय ? मूर्खता जो चाहे करावे। लोगों की देखादेख करने से प्रथम यह विचारना उचित है कि जिन को ब्राह्मण के नाम से खिलाने चले हैं, वह खिलाने योग्य हैं या नहीं, जितने ब्राह्मण खिलाने का संकल्प कर रहे हैं उतने ऐसे मिलेंगे या नहीं, जो खिलाने योग्य हों। क्योंकि भगवान ने कहा है कि—

दातव्यमिति यदानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तदानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

—“हमें देना चाहिये केवल इसी बुद्धि से, उसके बदले में किसी उपकार की इच्छा न रख, उत्तम देश, काल और पात्र को जो कुछ दिया जाता है वही सात्त्विक दान कहाता है ” (गी० १७, २०) । मनु आदि धर्मशास्त्रकारों की भी इस विषय में यही सम्मति है जैसा कि पूर्व प्रकरण में दिखलाया गया है । मनु भगवान् को अच्छी तरह से विदित था कि यदि झुण्ड के झुण्ड ब्राह्मण खिलाने की आज्ञा दी जायगी तो योग्य अयोग्य का विचार न रह सकेगा। लोगों को हार कर उन्हीं चमरू परिणत और धोढ़-

वत्त, पेटपाल शर्मा आदि के मुख में अन्न भोंकना पड़ेगा, क्योंकि अधिक संख्या में योग्य ब्राह्मण मिल ही नहीं सकते । इसीसे लिख दिया है कि—

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।

भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्येत विस्तरे ॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः ।

पञ्चैतान्निवस्तरो हन्ति हस्पात्रेहेतु विस्तरम् ॥

—देव कार्य में दो और पितृकार्य में तीन, अथवा दोनों में एक एक ही ब्राह्मण को, बहुत धनी होने पर भी, खिलावे, अधिक खिलाने के बखेड़े में न फँसे । क्योंकि ऐसा करने से उनका सत्कार न हो सकेगा । उत्तम देश, उत्तम काल तथा योग्य (विद्वान् तपस्वी) ब्राह्मण न मिल सकेंगे और अधिक के बखेड़े में पवित्रता भी न रह सकेगी । इसीलिये विस्तार की चेष्टा न करै (अ० ३.१२४—१२५) । याज्ञवल्क्य ने भी यही कहा है, जैसा कि " द्वौ देवे प्राक्त्रयः पित्र्य उदगेकैकमेव वा (अ० २२८) से स्पष्ट है । और पूर्वोक्त मनु वाक्यसे मिलता जुलता ही वाक्य उन्होंने भी लिखा है । यही उचित भी है । लोकमें देखा जाता है कि एक पैसे की हड़िया खरीदनेके समय भी लोग उसे पांच बार ठोकबजा लेते हैं । जब लौकिक सौदेगी, जिसके कि बिगड़नेमें हानि भी कमही होती है और जो आँखों से देखा जाता है,—यह दशा है तो फिर जो कि पारलौकिक सौदा—दान पुण्य और खिलाना पिलाना आदि—है उसके करते समय यह खराब है या अच्छा, हम टूटी नावपर लाद रहे हैं या मजबूत पर, यह क्यों न देखा जाय ? साथही यह सौदा तो सौ पचास, दो चार सौ या हजारों रुपये का होता है और आँखों से देखा हुआ न होने के कारण बड़ा नाजुक भी है । इसलिये उस विषय में जैसा शास्त्र कहे वैसा ही करना उचित है, उससे इंचभर भी इधर उधर डिगने में

भलाई नहीं है। क्योंकि, अन्धेरी गुफा में रास्ता दिखाने वाला जिधर से चलने को कहे उधर से ही चलने में कल्याण होता है। जरा भी चूकना विपत्ति का कारण बन जाता है। धर्म-कर्म भी अन्धेरी गुफा की चीज है, “धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्”, उसका पथप्रदर्शक शास्त्र के सिवाय दूसरा नहीं, जैसा कि “श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे” कहा गया है। और मनुजी ने भी कहा है कि—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ ॥

—श्रुतिस्मृति में कहे गए नियमों के अनुसार धर्म का करनेवाला मनुष्य इस लोक में यशोभागी होता तथा परलोक में सर्वोत्तम सुख पाता है। वेदका नाम श्रुति और धर्मशास्त्र का नाम स्मृति है। सभी बातों में इन दोनों की आज्ञा पर तर्क नहीं करना चाहिये “(अ० २। ६। १०) । परन्तु आजकल के धर्म कर्म करने वाले यद्यपि धर्मात्मापन की हामी भरते हैं तोभी प्रच्छन्न नास्तिक हैं। क्योंकि वे साफ २ वेदों और धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं का उल्लंघन करते हैं। खर्च तो धर्म के नाम पर करते हैं, पर चित्त में सिर्फ यही भावना रहती है कि लोग इसके द्वारा हमारी बड़ाई करें और कहें कि ओफ, अमुक मनुष्य ने तो इतने ब्राह्मण खिलाए और इतने रुपये खर्चे! वस पड़ाई लूटने का अब एक मात्र मार्ग श्राद्ध आदिही रह गया है। तो फिर क्यों न नास्तिक कहे जायें? यह सब हम अपनी ओरसे नहीं कह रहे हैं, किन्तु मनु नेही धर्मकार्यों में धर्म शास्त्रों के नियमों और आज्ञाओं के उल्लंघन करने वालों को नास्तिक और वेदनिन्दक तक कह डाला है, जैसा कि—

(४६)

योऽयमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

—जो द्विज किसी अन्य स्वार्थ, या शास्त्र का आधार लेकर उन श्रुति स्मृतियों की आज्ञाओं का उल्लंघन करता है, सत्पुरुषों को उचित है कि समाज से उसे बाहर (खारिज) कर दें; क्योंकि वह नास्तिक और वेदों का निन्दक है (अ० २।११) ।

ऐसे अवसरों पर खिलाने पिलाने या कुछ देने वालों पर इधर यह भूत सवार होता है कि अधिकसे अधिक लोगोंको खिलावे' चाहे उस से जमीन जायदाद तक बिक जाय तो भी कोई हर्ज नहीं ! बहुत सी जगह यही हुआ और हो भी रहा है । आगे चलकर लड़के बच्चे भूखों मरें पर इन्हें तो यश और स्वर्ग लूटने की ही चिन्ता है ! उधर खाने वालों की यह दशा है कि पांच बुलावे' तो पच्चीस दौड़े आवें', जिस से लोगों के नाकों दम हो जाता है । फिर उन मूर्खों से यदि कहा जाय, कि तुम योग्य (विद्वानों तथा सदाचारियों) को ही खिलाओ, तो कहते हैं, कि ऐसा मत कहिये । यदि हमारे गुरु पुरोहित ऐसा सुनलेंगे अथवा हम यदि इस भ्रम में पड़ेंगे तो कोई पढ़ेलिखे भी हमारे घर खाने हीन आवेंगे, और तब हमारा यज्ञ ही बिगड़ जायगा । गोया भेड़ों की तरह पतितों तथा मूर्खों को खिला देना ही यज्ञ के पूर्ण होने का एक मात्र साधन है ! हायरे हिन्दू धर्म ! कभी २ यह भी कहा जाता है कि मूर्खों को पुरोहित बना रक्खा है या बराबर बहुत दिनों से खिलाते आए हैं यदि उन्हें हटालेंगे या खिलाना बंद करेंगे तो वह हमारे ऊपर जान दे देंगे, हमारे द्वारपर आकर पड़ेंगे, दाढ़ी बाल बढ़ावे'गे इत्यादि । यह कैसी प्रचण्ड मूर्खता तथा धर्म के सम्बन्ध में उदासीनता है ! यदि कोई बृहस्पति बनकर भी किसी की एक तिलमात्र भूमि पर बलात् अधिकार करना या उस की बहू बेटी से अनुचित सम्बन्ध करना' चाहे तो

(५०)

इसे वह कभी न मानेगा, चाहे वह बृहस्पति या वाजपेयी बने वाला इस के लिये जान तक देदे । यह इस लिये होता है कि भूमि या वह बेटा को लोगों ने कोई आवश्यक या प्रतिष्ठित पदार्थ मान रखा है । पर, धर्म कर्म तो लोगों की दृष्टिमें कोई चीज़ नहीं है ! इसलिए उसके नाम पर केवल धमकीसे ही डर जाते हैं । क्योंकि अपनी जान कौन देता है ? यह सब तो केवल "बन्दर घुड़कियां" हैं और इनकी परीक्षा भी बार बार हो चुकी है । इसके अतिरिक्त इन सब कुचालों को रोकने के लिये तो पुलिस है ही, सिर्फ दाढ़ी वाल बढ़ाने, दरवाजे पर पड़ने या जान देनेवाले की सूचना उसे मिलनी चाहिये और उसके लिये दो गवाह । बस, इतने ही में वाल आदि बढ़ाने वाले ६ महीने के लिये कारागार की हवा खायेंगे । पर यह सब तभी हो सकता है जब हमें कुछ भी धर्म कर्म का ध्यान हो, हम उसे कोई चीज़ समझते हों ।

यहां पर, सब विचारों, शास्त्रों तथा बुद्धि को ताक पर रखकर बात करने वाले बहुत से बुद्धि के शत्रु प्रच्छन्न नास्तिकों का एक यह सिद्धान्त है कि "अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः" "चाहे विद्वान् हों या मूर्ख, ब्राह्मण मात्र ही भगवान के देह हैं" । यह सिद्धान्त बड़ा ही व्यापक और घातक है । जहां ही जाइये, इसका अटलराज्य है । कहीं पर भी ब्राह्मणों के सदाचार और पढ़ने पढ़ाने की बात चलाइये, बस, चट यही उत्तर पा जावेंगे । यदि यह श्लोक नहीं तो तुलसीकृत रामायण की यह चौपाई ही सुनाई जायगी कि "शापत ताडित पक्ष कहुन्ता । विप्र पूजि अस गावहि सन्ता ॥" हमें इस श्लोक की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता पर लिखार नहीं करना है । क्योंकि, ऐसे कहने वालों में जिन्हें "कुछ जानकारी है, वह मनुस्मृति का यह वाक्य अपनी पुष्टि के लिये उद्धृत करते हैं कि—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।

(५१)

प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्देवतं महत् ॥

—जिस तरह यज्ञ—होम—के लिये हवन कुण्ड में लाई या बिना लाई अग्नि महा देवता है, उसी प्रकार विद्वान् या अविद्वान् ब्राह्मण भी महान् देवता हैं ।

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।

हृयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं देवतं हि तव ॥

—जिस तरह श्मशान में जाने पर भी तेजस्वी अग्नि में दोष नहीं लगता, प्रत्युत यज्ञ हवन में उसका तेज और भी बढ़ता ही है । इसी तरह यद्यपि ब्राह्मण लोग सभी प्रकार के अनुचित कामों को करें तौ भी सभी प्रकार से पूजनीय हैं, क्योंकि वे परम देवता हैं । (अ० ६ । ३१७.३२०) । पर विचारने की बात यह है कि जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, जिनके हाथ में संपूर्ण हिन्दूसमाज की नकेल हो, जो सभी के पथप्रदर्शक और नेता हों, जिन्हें जगद्गुरु होनेका गर्व हो, उन्हें इतनी स्वतन्त्रता दे दी गई कि चाहे जो भी कुकर्म करें, फिर भी वैसेही प्रतिष्ठित रहेंगे, वैसे ही पूज्य होंगे । जिन मनु आदिने ब्राह्मणों के लिए कड़े से कड़े नियम बनाए वही क्या उन्हें ऐसी स्वतन्त्रता देंगे, जिससे उनके सभी नियमों पर पानी फिर जाय ? स्वतन्त्रता भी ऐसी जिसको कि मूर्ख भी मानने को तैयार नहीं ! क्या कोई विज्ञ पुरुष नीच से नीच और मूर्ख से भी मूर्ख, दुराचारी ब्राह्मण की वैसे ही प्रतिष्ठा करेगा जैसी कि सदाचारी और विद्वान की ? क्या यह कथमपि सम्भव है ? क्या इसे ही “ अन्धेर नगरी चौपट राजा । “ टके सेर भाजी टके सेर खाजा ” नहीं कहते ? यदि ऐसा ही नियम रहेगा तो क्या कभी कोई ब्राह्मण, विद्वान् तथा सदा-

(५२)

चारो बनने का कष्ट उठावेगा ? किस की जान मुफ्त की है कि २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य के कठिन नियमों का पालन करता हुआ विद्या पढ़े और बाद को नित्य दोनों या तीनों समय स्नान संध्यादि का महान् कष्ट उठावे, फिर भी मान प्रतिष्ठा उतनीही जितनी कि लण्ठाचार्य पेटपालदत्त मौजी जी की ? वस इसीलिये बहुतों ने इन श्लोकों को प्रक्षिप्त या आधुनिक माना है। क्योंकि मनु के ही पूर्वोत्तर ग्रन्थों से इनका विरोध है। परन्तु हम उतनी दूर जाने को तैयार नहीं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि पूर्वापरविरोध हटाने के लिये, या पूर्व प्रदर्शित दोषों से बचने के लिये ही ये श्लोक प्रक्षिप्त ही मान लिए जाएं। इसका और ही सुन्दर उपाय है। पर, वह उपाय बतलाने से प्रथम हम यह कह देना उचित समझते हैं, कि उन श्लोकों के अन्धभक्त लोग अब पढ़ना पढ़ाना तथा सन्ध्या स्नानादिक करना छोड़ मजे से गुल-छुरें उड़ावें, और यदि वे ऐसा नहीं करते तो हम कहेंगे कि वे लोग ही स्वयं अपने सिद्धान्त के पक्के नहीं हैं। केवल संसार को ठगने के ही लिये उन्होंने यह जाल रच रक्खा है, नहीं तो फिर जैसा अर्थ उन श्लोकों का करते हैं उसके ही अनुसार स्वयमेव क्यों नहीं चलते ? इससे पता चलता है कि दाल में कुछ काला अवश्य है, और जैसा अर्थ उन श्लोकों का उन लोगों ने समझा है वस्तुतः वह नहीं है, किन्तु और ही कुछ है।

सब से पहली बात जो इस सम्बन्ध में विचारणीय है, यह है कि पूर्वोक्त श्लोक मनुस्मृति के ६ वें अध्याय में हैं जो केवल राजधर्मप्रकरण के हैं। इस लिये इन श्लोकों का सर्वसाधारण से कोई सम्बन्ध ही नहीं। यह सर्वसाधारण गृहस्थों के मानने की बात नहीं, किन्तु केवल राजा के ही करने की है। सो भी जिस का नाम राजा पड़ जाय, या जिसे राजा की पदवी मिल जाय, वही ६ वें अध्याय के इन धर्मों को करने का अधिकारी नहीं है, किन्तु

वह क्षत्रिय हो, अथवा उसका राज्याभिषेक शास्त्रीय रीति के अनुसार हुआ हो । साधारण ब्राह्मण आदि क्योंकर इन बातों को मानेंगे ? यद्यपि नवें अध्याय के प्रारम्भ में सभी लोगों के धर्मा का वर्णन है, तथापि २२१ वें श्लोक से राजा के ही दण्ड आदि कर्त्तव्यों का वर्णन चला है और ३२५ वें श्लोक में उसका उपसंहार किया है, जैसा कि—

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।

राजाओं के सनातन कर्त्तव्य की विधि यहां तक बताई गई है । इस बीच में केवल राजा, और नृप शब्द ही आए हैं, और इन दोनों शब्दों के सम्बन्ध में कुल्लुकभट्ट ने सातवें अध्याय के प्रारम्भ में ही लिखा है कि 'राजशब्दो नात्र क्षत्रियजातिवचनः किन्त्वभिषिक्त-जनपदपुरपालयितृपुरुषवचनः । अतएवाह यथावृत्तो भवेन्नृप इति' ।

—यहाँ राजा शब्द का अर्थ क्षत्रियमात्र नहीं है, किन्तु जिसका अभिषेक देश नगर आदि के पालनार्थ हुआ हो, उसे ही राजा कहते हैं । इसीलिये उसे नृप कहा है । राजा भी वस्तुतः ऐसा नहीं कर सकता और उसे करना भी नहीं चाहिये ! यह खाली ब्राह्मणों को प्रशंसा है । जिसकी वारात उसकी गीत यह साधारण रीति है । प्रसंग वश उन ब्राह्मणों की और उन्हीं के द्वारा ब्राह्मणसमाज की प्रशंसा की गई है, जिन्होंने अपनी विद्या और तपके बल से बड़े-२ चमत्कार के कार्य किये थे, जैसा कि उन्हीं श्लोकों से ठीक पूर्व लिखा है किः—

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।

ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥

०० यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्नि रपेयश्च महोदधिः ।

क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत् प्रकोप्य तान् ॥

लोकानन्यान्मृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।

देवान्कुर्यु रदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्ममृध्नुयात् ॥

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।

ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः ॥

राजा अत्यन्त आपत्ति के समय भी ब्राह्मणों को कुपित न करे । क्योंकि क्रुद्ध होने पर चट पट वे राजा का दलबल के साथ नाश करदेंगे । जिन्होंने शाप देकर अग्नि को सभी भक्ष्याभक्ष्य का भक्षक बना दिया, समुद्र को खारा कर दिया, और चंद्रमा को क्षयरोगयुक्त बना दिया, उसके पश्चान् आशीर्वाद देकर बढ़ने वाला भी कर दिया, उन्हें कुपित कर कौन नष्ट न हो जायगा ? जो क्रुद्ध हो कर दूसरे लोकों एवं लोकपालों की सृष्टि कर सकते और देवताओं को देवपद से हटा सकते हैं, उन्हें पीड़ा देकर कौन समृद्धियुक्त हो सकता है ? जिन केही आधार पर सम्पूर्ण लोक और देवता हैं, और वेद ही जिन का धन है, प्राण की लालसा वाला कौन पुरुष उन्हें मारेगा ? (अ० ६ । ३१३—३१६) । इससे प्रगट है कि केवल दुराचार से ही जीवन बिताने वालों तथा गायत्री तक के न जानने वालों एक मात्र परान्न भोजी एवं ब्राह्मण शब्द को कलंकित करने वालों को यहां प्रसंग ही नहीं है । उन में पूर्वोक्त सामर्थ्य कहां है ? यहां तो केवल सौमरि, पराशर तथा नारदादि ब्रह्मर्षियों सेही तात्पर्य है, जिन से दैवात् कोई बुरा कर्म भी यदि हो जाय तोभी अपने अखण्ड सामर्थ्य के कारण वे माननीय ही हैं और उन्हां के नाम पर समान्यतः ब्राह्मणसमाज की प्रशंसा मनुने की है । सो भी यदि उन्हें ऐसी आशा होती कि कभी उन ब्रह्मर्षियों के वंशज ऐसे पतित हो जायंगे जैसे आजकल हो रहे हैं तो कदापि यह प्रशंसा न करते । परन्तु स्वप्न में भी उन्हें ऐसी आशा न थी, जैसा कि प्रथम प्रकरण में दिखला चुके हैं । जिन्होंने गर्वपूर्वक यह कह दिया था कि यहाँ के ब्राह्मण ही सब संसार के गुरु होंगे, उन्हीं के मुख से यह प्रशंसा भी निकली है । अतः यदि आजकल के पेटू पण्डित लोग उस जग-

दूगुरु के बनने की योग्यता वाले नहीं हैं, और अतएव मनु की उस बातको मिथ्या सिद्ध कर रहे हैं, तो फिर उन्हें ६ वें अध्याय वाली प्रशंसा या पूजा का अधिकार कैसे हो सकता है ? अस्तु, राजा के लिये भी यदि कोरी प्रशंसा ही होती और यदि वास्तव में मूर्खों तथा दुराचारियों का सत्कार करना ही उचका धर्म होता तो उससे कुछ हो प्रथम यह क्यों कहा जाता कि—

आगस्सु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ।

विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥

“अपराध करने पर ब्राह्मण के ऊपर पांचसौ पण दंड लंगावे, अथवा वोरिये बधने के साथ उसे अपने राज्य सेही बाहर करदे” (अ० ६ । २४१) ? आठवें अध्याय के ३७८-३८३ आदि श्लोकों में भी परस्त्रीगमन आदि दुराचार करने पर फांसी के सिवाय सभी प्रकार के दंड ब्राह्मणों को राजा दे यह आज्ञा क्यों दी जाती ?

इसके अतिरिक्त यदि उन्हीं श्लोकों के अर्थ पर पूरा विचार किया जाय तो विदित हो जायगा कि लोग उनका अर्थ समझने में गलती करते हैं। प्रथम श्लोक (३१७वें) में मनु ने अविद्वान ब्राह्मण को भी अच्छा कहा है और उसमें दृष्टान्त दिया है प्रणीत तथा अप्रणीत अग्नि का । प्रणीत अप्रणीत का अर्थ यह है कि जो अग्नि अग्निहोत्र आदि कर्मों के लिये संस्कार करके गार्हपत्यकुण्ड में स्थापित रहती है और कहीं इधर उधर लाई नहीं जाती वह अप्रणीत कहलाती है । पर, उसी में से जो आचहनीय कुण्ड में हवन के लिये अथवा अन्यत्र भी ऐसेही कार्यों के लिए ली जाती है, वह प्रणीत कहलाती है । इससे स्पष्ट है कि इन दोनों प्रकारकी अग्नियों में बहुत ही कम अन्तर है । यद्यपि एक में होम होता है, और दूसरी में नहीं, तथापि दोनों का शास्त्रीय रीतिसे संस्कार हुआ है-अप्रणीत का ही एक अंश प्रणीत है । केवल दूसरे स्थान पर जाने मात्रसेही

नाम बदला है। परन्तु विद्वान् तथा अविद्वान् में आकाश पातालका अन्तर है। विद्वान् शब्द देखने से छोटा प्रतीत होता है, पर इसका अर्थ बहुत बड़ा है। मुण्डकोपनिषद्में वर्णित ऋग्वेदादि वेदशास्त्र-समूह रूप अपरा विद्या एवं ब्रह्मज्ञान(ब्रह्मसाक्षात्कार) रूप परा विद्या ये दोनों जिसमें पाई जायं वही विद्वान् कहाता है और जिस में यह बात न हो वह अविद्वान् है। एकाध शास्त्र या थोड़ा बहुत पढ़ने वाले को कभी विद्वान् नहीं कह सकते, उसकी गणना अविद्वान् में ही है। लेकिन, यदि वही सदाचारी तथा गायत्री प्रभृति नित्यनैमित्तिकादि कर्मों का करने वाला हो तो अविद्वान् होने पर भी विद्वान् की तरह मान्य हो सकता है। जैसा कि मनु जी ने ही कहा है कि—“ सावित्रीमात्रसोरोऽपि ” इत्यादि। यह बात पूर्वार्द्ध में कही गई है। वस, ऐसेही विद्वान् अविद्वान् से यहां तात्पर्य है, कारण,ऐसोंही में परस्पर कम अन्तर हो सकता है। और इसीलिये प्रणीत, अप्रणीत अग्नि का दृष्टान्त भी यथार्थरूप से लग सकता है। न कि महामूर्ख, दुराचारी केवल पूआपांडे अविद्वान् शब्दसे समझे जा सकते हैं। ऐसों का यहां प्रसंग कहां ? तुलसीदास की उक्त चौपाई का भी यही आशय है। इसी लिये अयोध्या कांड में कहा है कि, “सोचिय विप्र जो वेदविहीना । तजि निज धर्म विपयलवलीना ॥” और उत्तर कांड में भी कहा है कि “ विप्र निश्चर लोलुप कामी । दुराचार शठ वृषलीगामी ॥” यदि उनका अभिप्राय ऐसा न होता तो फिर यह शिकायत क्यों करते ?

अब रही शेष दो ३१८, ६१६ श्लोकों की बात। वहां भी यही बात है। प्रथम श्लोक (३१८ वें) में कहा गया है कि तेजस्वी अग्नि श्मशान में जाने पर दूषित नहीं होती, वरन् यज्ञों में होम के समय और भी दीप्त होती है। फिर आगे कहते हैं कि इसी तरह यदि सभी प्रकार के अनिष्ट कर्मों में फंसे रहें तो भी ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। इससे प्रगट है कि दुराचारी ब्राह्मण की

उपमा श्मशान की अग्नि से दी गई है और सदाचारो की यज्ञ की अग्नि से । पर स्मरण रखने की बात यो यह है कि क्या श्मशान की आग से वह काम लिया जाता है जो यज्ञकुंड की आग से लेते हैं ? जो आहुति यज्ञ की आग में दी जाती है या जो पूजा उसकी की जाती है क्या वही बात श्मशान वाली आग में भी होती है ? पूजा और आहुति की बात तो दूर रही, कोई रसोई बनाने के काम में भी उसे नहीं लाता, यहां तक कि छूता भी नहीं । फिर कैसे कहें कि उसी के समान या स्थानापन्न दुराचारी ब्राह्मण को कोई पूजेगा, उसे खिलावेगा या छू वेगा भी ? और यदि ऐसा न होगा तो फिर क्योंकर कहेंगे कि मनुस्मृति में ऐसा ही लिखा है ? मनुस्मृति के अन्धभक्तों को हम कहेंगे कि यदि उन श्लोकों का वही अर्थ मानते हैं जैसा कि पूर्व प्रदर्शित है तो पहले श्मशान की आग लाकर उसी से रसोई बनवावें और उसी में होम करें, करवावें, तब यह दावा कर सकते हैं कि दुराचारी तथा सदाचारी दोनों ब्राह्मणों का सत्कार समान ही करना चाहिये । और यदि वे ऐसा नहीं करते तो यही समझा जायगा कि उन्होंने ने या तो मनुस्मृतिके उन वाक्यों का अर्थ ही नहीं समझा है, या समझ कर भी वे संसार को ठगते हैं । इस से सिद्ध है कि उन वाक्यों का अभिप्राय और ही कुछ है और वह यह है कि जिस तरह किसी घर के एक, दो, चार आदमियों के अपने ही मन वाले होने के कारण उस घर को लोग अलग छ्वांट देते और उस से नाता तोड़ लेते हैं, जिस प्रकार किसी जाति के अधिकांश लोगों के डाकू लुटेरे या दुष्ट होने के कारण वह जाति ही बूढ़नाम हो जाती है और उस के अच्छे से अच्छे मनुष्यों पर भी लोग न तो विश्वास करते हैं और न उन्हें प्रतिष्ठा ही देते हैं, जैसे किसी जाति के बहुसंख्य लोगों के लड़ाकू न होने के कारण वह जाति लड़ाकी नहीं समझी जाती और इसी से उसके वीर से वीर एवं निर्भीक निर्भीकसे मनुष्य भी सेना में भरती नहीं किये जाते,

अथवा जिस तरह शूद्रों में अधिक लोगों के वेदों के पढ़ने तथा समझने के अयोग्य होने के कारण वह जाति ही वेदों की अनधिकारिणी समझ ली गई, जिस से कि योग्य से योग्य भी शूद्र वेदों के पढ़ने से वञ्चित हो गये, क्योंकि अधिक संख्या के ही अनुसार कोई नियम बनाया जाता है—(Majority is granted) । इसीलिये जैमिनि ने मीमांसादर्शन में यही कहा है कि “विप्रति-विद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम्” (मी० १२।२।२३) । इसका अभिप्राय पूर्वोक्त ही है । इसी तरह ब्राह्मणों में भी अधिकांश लोगों के दुराचारी तथा मूर्ख होने पर कभी ऐसा न हो जाय कि हिन्दू समाज ब्राह्मणजातिमात्र को ही अपूज्य तथा अमान्य समझ ले, जैसा कि हाल तक पंचद्राविड़ लोग पंच गौड़ोंको शूद्र तथा वेद और संन्यास के अनधिकारी समझते थे, और अभी तक प्रायः समझते ही हैं ! मालावार में जाने पर पूर्व देश के ब्राह्मणों को रांगड़े तथा काशीशूद्र, वहां के ब्राह्मण कहा करते हैं और वेद नहीं पढ़ाते ! वह केवल इसी लिये कि अधिकांश पंचगौड़ों ने इधर बहुत दिनों से वेदों का पढ़ना पढ़ाना एक प्रकार से छोड़ ही दिया था और अभी तक प्रायः वही दशा है । बस, यही बात विचार कर मनु ने कहा है कि नहीं ऐसा नहीं हो सकता । यदि ब्राह्मणसमाज में बहु संख्य लोग निरक्षर तथा दुराचारी हो जायं तो भी वह जाति दूषित नहीं हो सकती, किन्तु उस समाज में जो ही दो चार विद्वान् सदाचारी हों उन का तो सत्कार करना ही चाहिये, जो के साथ घुन की तरह अन्यान्य पतितों तथा मूर्खों के साथ उन्हें भी पीस डालना उचित नहीं है । बस, यही मनुस्मृति के उन वाक्यों तथा अन्यान्य ग्रन्थों के ऐसे वाक्यों का वास्तविक तात्पर्य और रहस्य है । अतएव इन वाक्यों में भी “जो ही कुकर्मी और मूर्ख हो उसी ब्राह्मण व्यक्ति की पूजा करनी चाहिये” ऐसा न कह साधारण रीति से ब्राह्मण जातिको ही पूजित होने योग्य ठहराया है—“ब्राह्मणो

(५६)

दैवतं महत्” “सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः” इत्यादि । इसीलिये आगे चलकर दसवें अध्याय में कहा है कि—

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।

ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् ॥

—“जिन ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्राह्मणी, ब्राह्मण से हुई हो तथा जो ब्रह्मध्याननिष्ठ और अपने धर्मों के पालन करने वाले हों वेही पढ़ना पढ़ाना और दान प्रतिग्रह आदि छुआँ कर्मों को विधिवत् करें” (मनु० १० । ७४) । इसीलिये देने दिलाने के सम्बन्ध में भी ११ वें अध्याय के प्रारम्भ में राजा और सामान्यतः सभी गृहस्थों के लिये यही आज्ञा दी गई है कि—

सर्वरत्नानि राजा तु यथाहं प्रतिपादयेत् ।

ब्राह्मणान्वेदविदुषो यथार्थं चैव दक्षिणाम् ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।

वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समीहते ॥

“राजा सभी रत्नादि तथा यज्ञ की दक्षिणा वेद के ज्ञाता ब्राह्मणों को योग्यता के अनुसार दे दिलावे । तथा अन्य गृहस्थ भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेद के जानकार तथा एकान्तसेवी ब्राह्मणों को धन देवे । इससे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है” (मनु० ११ । ४, ६) ।

यदि योग्य ब्राह्मण यज्ञ में भोजनार्थ न मिलें, या योग्य होने पर भी किसी कारण वश क्रुद्ध होकर न आवें तो इसमें चिन्ता हो क्या ? इस प्रकार यज्ञ बिगड़ने का भय मानना लोगों की सरासर भूल है । मनु और याज्ञवल्क्य आदि की आज्ञा है कि यदि श्राद्ध और यज्ञ आदि में खिलाने योग्य ब्राह्मण न मिलें तो—

मातामहं मातुलं च स्वस्त्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।

दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥

(६०)

“अपने नाना, मामा, भानजे, ससुर, गुरु, लड़कीके लड़के, दामाद, भाई विरादर, यज्ञ कराने वाले और यज्ञ करने वाले को ही खिलावे” (मनु० ३ । १४८) । आपस्तम्ब ने तो एक जगह श्राद्ध प्रकरण में लिखा है कि “सोदर्योपि”—सहोदर या सगे की भी खिलाने से काम होजाता है। फिर यदि अपने भाई बन्धु ब्राह्मण हीं हो तो बातही क्या ? तब तो सोने में सुगन्ध आजाती है। क्योंकि वे भाई भी हैं और ब्राह्मण भी। उन के मुकाबिले में दूसरों को खिलाना कभी भी उचित नहीं। बल्कि हर समय जब कभी देने दिलाने या खाने खिलाने का अवसर आवे तभी अपने दुःखी भाई बन्धुओं को खिलाना या धन देकर उनका दुःख दूर करना चाहिए। घर की जमीन्दारी और धन ब्राह्मण के नाम पर मूर्खों को लुटाना और अपने लड़के बच्चों को कंगालबना देना महत् पाप है, जैसा कि बहुत से लोग नामवरी लूटने के लिये किया करते हैं। मनु कहते हैं—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।

मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥

भृत्यानामुपरोधेन यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।

तद्भवत्यसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥

“अपने भाई बन्धुओं के दुःख से जीवन बिताते रहने पर भी जो दूसरों को धर्म के लिये कुछ भी देता है वह उसके देखने में तो मनुके समान सुखद धर्म प्रतीत होता है। पर, अन्त में विष के समान नरक के दुःख का देने वाला अधर्म ही है। जो अपने बाल बच्चों की जीविका मार कर (जमीन आदि बँचकर या ऋण लेकर) पार लौकिक दान आदि करता है वह दान उसके जीते जी तथा मरने पर भी केवल दुःख देने वाला ही होता है” (मनु० ११ । ९, १०) ।

ब्राह्मणों में और उन्हीं के द्वारा हिन्दू समाज में एक बात आज कल अत्यन्त प्रचलित है, जिसने हिंदू समाज को अकर्मण्य—आलसी—

(६१)

वनारकलाह, तथा जिसका उपदेश गुरु, पुरोहित और वत्तमान साधु संत अपने यजमानों एवं चेलों को रात दिन किया करते हैं। जब कोई विपत्ति आती, या अतिवृष्टि, अनावृष्टिका कोप होता, अकाल या महामारी आती, अन्न आदि की उपज नहीं होती और धर्मकर्म से लोग विमुख होते हैं, तो उन लोगों को उन दुःखों से बचने का उपाय सुझाने तथा धर्म कर्म के लिये उत्साहित करने और यत्नवान एवं पुरुषार्थी होनेका उपदेश न देकर केवल यही कहा जाता है कि क्या कीजियेगा, यह तो कलियुगका धर्म ही है ! कलियुगमें बार बार ऐसा होता ही रहता है। इसी के साथ होसका तो पुराणों के दो चार कलिमाहात्म्य के आख्यान भी सुना कर, मूर्ख हिन्दू समाज के दिलमें वचपन से ही यह बात भरते भरते पक्की कर दी जाती है। जहां देखिए इसका अखण्ड राज्य है। फल यह होता है कि सभी लोग आलसी और दैववादी बन जाते हैं ! जहाँ देखिए और जब देखिए भाग्यही भाग्य चिन्ताया करते हैं। यह कितने अनर्थकी बात है ! नहीं कह सकते कि यही समय क्या भारत के सिवाय अन्य देशों के लिये अर्थ दृष्टिसे सत्ययुग हो रहा है ! जिससे वे धन, जन, मान, राज्य और प्रतिष्ठा में उत्तरोत्तर वृद्धि कर तथा स्वर्गसुख भोग रहे हैं। पर, भारत के लिये यही कलियुग हो रहा है ! क्या कभी यह सम्भव है कि एक ही समय एक जगह कलियुग हो तो दूसरी जगह सत्ययुग, जेता, या द्वापर हो ? समय तो सब जगह एक ही है। फिर वह चाहे कलि हो या सत्ययुग। इस सम्बन्ध में भगवान् मनुका सिद्धान्त निराला और परम आदरणीय है। उन्होंने कर्म के प्रसंग से सत्ययुग तथा कलियुगकी निराली ही व्याख्या की है। उनका यह आदेश है कि चाहे कलियुग मानो या सत्ययुग, पर, कर्म, उपाय, यत्न करने से मत चूको। एक दो बार या बार बार निष्फल होनेपर भी कर्म करना न छोड़ो—Try try again. क्योंकि कर्म करने वालेको फलसम्पत्ति अवश्य प्राप्त होती है। निराश होनेकी कोई बात नहीं—You will conquer

(६२)

never fear. जैसा कि ६ वे' अध्याय से स्पष्ट है:—

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनःपुनः ।

कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

किर जब कलियुग वाला पूर्वोक्त सिद्धान्त उनके सम्मुख आया है तो ऊपरवाले श्लोक के बाद के दो श्लोकों में उन्होंने ने कलियुग आदि की निराली ही व्याख्या की है, जो कर्मयोगके अनुकूल ही है और उसके अनुसार पूर्वोक्त कर्मयोग वाला सिद्धान्त और भी दृढ़ हो जाता है । मनुजी कहते हैं कि—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलियुगं च ।

राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजाहि युगमुच्यते ॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ।

कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरँस्तु कृतं युगम् ॥

“सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चारों राजा ही के आचरण हैं, क्योंकि राजाही को युग कहते हैं । राजा जिस समय अकर्मण्य होकर विषय सुखमें लीन तथा अपने कर्त्तव्य ज्ञान से रहित होता है उससमय कलियुग समझना चाहिये; जिस समय अपने कर्त्तव्य को सिर्फ समझनेलगत है उस समय द्वापर; जब उस समझके अनुसार काम करने का विचार करता या उसके लिये तत्पर होता है तब त्रेता और जब पूर्ण रीति से अपना कर्त्तव्य पालन करता रहता है तब सत्य युग समझना चाहिये” (मनु० ३०१, ३०२) । इससे स्पष्ट है कि राजा की अकर्मण्यता और कर्मपरता पर ही युग व्यवहार अवलम्बित है । इस हिसाब से तो इस समय कर्मदृष्ट्या सत्ययुग ही है । आजकल यहां अंग्रेजों का राज्य है और वे लोग स्वार्थदृष्टि से ही सही बड़े पुरुषार्थी हैं । उन्हें काम से चैन नहीं है । इसका आशय यही है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य से ही कलियुग और सत्ययुग बना सकता है ।

(६३)

जब सभी लोग आलसी और "दैव दैव आलसी पुकारा" वाले हो जायें तभी घोर कलियुग, एवं जय कर्मपरायण, कर्तव्य पालन में तत्पर, पूर्ण कर्मयोगी हो जावे, तो सत्ययुग ही समझा जाता है। वस, यही युगव्यवस्था कर्म करने के लिये माननीय है। इसके अतिरिक्त और कोई नहीं। यद्यपि मनुस्मृति के प्रथमाध्याय में भी सामान्य रूप से युगों का वर्णन आया है। पर, वहां केवल समय विभाग से ही तात्पर्य है और उसी विभाग के उपयोगी पदार्थों का वर्णन भी है। और वहां जो कुछ पदार्थों की दशा युग के हिसाब से न्यून, अधिक तथा उत्तम मध्यम कही गई है, वह तो इस पूर्वोक्त युग में भी घट सकती है और इसी युग के अनुसार उसकी व्यवस्था यथार्थ रूप से लग सकती है।

तीर्थों के परगडों, मन्दिरों के पुजारियों तथा गंगापुत्रों की दशा भी अत्यन्त हृदय विद्रावक हो रही है। कहने को तो गंगापुत्र और परगडे आदि भी ब्राह्मण ही माने जाते हैं। पर, केवल ब्राह्मण शब्द को कलंकित करने के ही लिये यह उनकी सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। यह ठीक है कि विना ब्राह्मण बने हिन्दू समाज में धार्मिक दृष्टि से पूजा सत्कार नहीं हो सकता। पर, केवल ब्राह्मण कह देने मात्र से तो काम नहीं चलता। अन्ततो गत्वा कुछ भी ब्राह्मणोचित कर्म होना ही चाहिये। सोलह आना नहीं तो कम से कम एक पैसा तो हो। पर, साधारण रीति से परगडा पुजारी का अर्थ यही है कि जो निरक्षर भट्टाचार्य हो। प्रायः आश्विन के पितृपक्ष में काशी जैसे स्थानों में गंगा के भीतर जाकर तर्पण करने वाले अधिकांश हिन्दुओं की ओर से परगडे या गंगापुत्र ही मंत्र बोला करते हैं। पर कैसे मंत्र बोले जाते हैं, इस बात के साक्षी गंगा और ईश्वर ही हैं। वैदिक मंत्रों की तो बात ही निराली है, पुराणों के श्लोकों तक की जो दुर्दशा और अंगभंग किया जाता है उसे श्लोकों की जान ही जानती होगी। वेद के मंत्र तो प्रायः लोग न जानते और न बोलते ही हैं। अतः उस समय इस

(६४)

दुर्दशा से बचने में उन मंत्रों को भाग्यवान् ही समझना चाहिये । पर, साधारण श्लोकों का जिस बुरी तरह उच्चारण किया जाता है वह सहृदय मनुष्य के लिए असह्य है । “ नानी स्वधा ” “ परं नानी स्वधा ” इत्यादि उन लोगों के मंत्र बोलने का प्रकार है ! कहिये, भला इस अधःपात का फर्हीं ठिकाना है ! यदि इन्हीं मंत्रों से पितरों की तृप्ति होती है और उन्हें पिएडा पानी मिल सकता है तो फिर वाइविल और कुरान की आयतों से ही तर्पण कराने में क्यों न पहुँचेगा ? गया में लोग जब पितरों के लिये स्वर्ग की सीढ़ी बनवाने जाते हैं तो वहाँ के पण्डे भी स्वयं पिएडा पानी दिलाने नहीं जाते ! किन्तु उनके नौकर चाकर ही जाते हैं जो अधिकांश जाति के अहीर, कहार या कुर्मी आदि होते हैं । बस अब इतने ही से समझ सकते हैं कि वहाँ कैसा श्राद्ध तर्पण होता है । पर, स्मरण रहे कि यद्यपि उस समय पण्डा जी को अपने टन टन और ठन ठन से फुर्सत नहीं रहती और यदि फुर्सत भी रहे तो वे लोग ही कौन से वेदपाठी होते हैं कि श्राद्ध आदि विधिवत् करवा डालेंगे ? यदि एक ने दुर्दशा न की तो दूसरे ने ही कर डाली ! फिर भी यज्ञमान का “ सुफल ” कराने जरूर आवेंगे ! क्योंकि उस समय कसाई की तरह यात्री लोगों—भोली भाली हिन्दू जनता—के पैसे निर्दयता पूर्वक निचोड़ने होते हैं और जब तक यज्ञमान को कौपीनमात्रशेष न करलें—बल्कि घर जा कर कुछ और भी मनीआर्डर द्वारा अपने पास भेजने की प्रतिज्ञा न करवा लें—तब तक यात्री की पीठ ही नहीं ठोकते ! और जब तक उनकी पीठ न ठोकी जाय तब तक उनका सब किया कराया व्यर्थ ही रहता है !! पितरों के पास श्राद्ध का फल भेजने का बीमा तो पण्डों का हाथ ही है ! इसीसे ठोकने पर ही बीमा पक्का होता है !! भला इस अनर्थ का कुछ ठिकाना है ! तीर्थ यात्री भलेमानुषों और श्राद्ध तर्पण करने वालों की समझ की बलिहारी है ! इस तर्पण श्राद्ध के व्याज से पाप करने की अपेक्षा तो श्राद्ध आदि न

(६५)

करना ही अच्छा है। लेकिन यदि सचमुच श्राद्ध तर्पण करना हो तो गया हो या अन्यत्र, अपने घर से विद्वान पण्डित ले जाना चाहिये, या वहाँ पर ही ढ़ंढकर कराना चाहिये। व्यर्थ की कवायद परेत से कोई लाभ नहीं है। हाँ यदि श्राद्ध का ही श्राद्ध करना हो तब तो कहने की कोई बात ही नहीं। उचित तो यही है कि श्राद्धादि करने वाले उसकी विधि और मंत्रादि स्वयमेव सीखलें, तभी श्राद्धादि करें। और यदि पुजारी रखकर ही भगवान की पूजा करानी हो तो ऐसी ठाकुरवाड़ियों की आवश्यकता नहीं। नौकरसे अपनी सेवा करानी होती है। भगवान के लिये नौकर की आवश्यकता नहीं। भगवान की सेवा यदि अपने ही हाथों से कर सकें तो ठीक, नहीं तो केवल ढोंग ही है। क्या भगवान को नौकरों की कमी है कि नौकरों द्वारा कराई गई किसी की पूजा वे स्वीकार करें? “भक्त्या तुष्यति केवलो न च गुणैः भक्तिप्रियो माधवः”। नौकर पुजारी को भक्ति कहाँ? उसे तो अपने भोजन और वेतन की ही चिन्ता रहती है। इसीलिये ठाकुर जी की पूजा के लिए जो घी मिलता है उसका कुछ ही अंश दीयावत्ती में खर्च कर शेष अपने ही पेट में डाल देने या बेचने वाले पुजारी प्रायः मिलते हैं! क्याही सुन्दर पूजा है! तीर्थयात्रा में और तीर्थके पण्डोंको देनेमें बहुतसा पैसा व्यय होता है। पर, हमें किसी भी धर्म ग्रन्थ में आज कलकी यह तीर्थयात्रा नहीं मिली और न ऐसा तीर्थदान हीं दीख पड़ा! खासी मौजके साथ खूब ठाट वाट से रेल पर चढ़कर घूम आने को न तो तीर्थयात्रा कहते और न वहाँ जाकर मूर्खों तथा पेटपरायणों के पाकेट भरने को तीर्थदान कहते हैं। हाँ, इस काम को विहार, मौज एवं प्रन्धाधुन्धी कह सकते हैं। तीर्थध्वांक्षों को खिलाने और देने से लाभ के स्थान में हानि ही हानि है। सुपात्र को देना चाहिए और भक्ति हो तो नंगे पाँव व्रत विराम पूर्वक तीर्थ यात्रा करनी चाहिए।

ब्राह्मण समाज की जो बड़ी भारी दुर्दशा इस समय देखी जा रही है उसके कारण परस्पर की ईर्ष्या, कलह और द्वेष हैं। सम्प्रति ब्राह्मण

(६६)

समाज शतशः छोटे छोटे दलोंमें विभक्त है। साधारणतः आज लोगों की धारणा है कि दसही प्रकार के ब्राह्मण हैं। कान्यकुब्ज, गौड़, उत्कल, मैथिल और सारस्वत यह पंच गौड़ कहाते हैं और महाराष्ट्र, द्राविड़, तैलंग, कर्णाटक और गुर्जर (गुजराती) यह पंच द्राविड़ कहे जाते हैं। यह भी लोग समझते हैं कि यह विभाग अनादिकाल का अथवा कमसे कम कई सहस्र वर्षों का है। परन्तु, यह धारणा भ्रमसे खाली नहीं है। यह पूर्वोक्त कान्यकुब्ज आदि नाम कान्यकुब्ज आदि देशों के अनुसार पड़े हैं। इन देशों के इन नामों का जो इतिहास पुराण, वाल्मीकि रामायण या महाभारत में मिलता है, उससे पता चलता है कि ये नाम सृष्टिके प्रारम्भ के न होकर बहुत पीछे के हैं। पर, इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि इन देशों में से किसी किसीके नाम कहीं कहीं प्राचीन ग्रन्थोंमें आए हैं, तथापि वहाँपर सिर्फ कान्यकुब्ज आदि देशही उन शब्दों से लिए गए हैं, न कि उन उन देशों की ब्राह्मणादि जातियाँ भी कान्यकुब्ज आदि शब्दों से समझी गई हैं। ब्राह्मणोत्पत्तिमार्गण्डमें अवश्यमेव यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि यह भेद तथा अन्यान्य ब्राह्मण भेद बाबा आदमके समय से ही चला आता है और इसकी पुष्टिके लिए पुराणों के नामपर बहुत से श्लोक भी लिखे गए हैं ! पर, यह सब बातें अश्रद्धेय हैं। उस ग्रन्थ के रचयिता ने पुराणों के नामपर अपनेही मनगढ़न्त श्लोक लिख डाले हैं ! वह कदापि माननीय नहीं हैं। श्रीवेंकटेश्वर प्रेस से ही वह प्रकाशित हुआ है और उसी प्रेससे जो भविष्य पुराण के नामपर एक ग्रन्थ छपा है उसको छोड़ और कहीं भी इसकी चर्चा नहीं है। पर, याद रहे कि उस भविष्य पुराण का कोई ठिकाना नहीं है। प्राचीन भविष्य पुराणमें, जो लिखित रूपमें मिलेगा, यह बात पाई नहीं जायगी। यह भी तो स्मरण रखना चाहिये कि जब उस ग्रन्थमें मुसलमानी बादशाहों और आज तक के महात्मा कबीर आदि पुरुषों के भी नाम और हाल दिए हैं तो फिर उस ग्रन्थ के लेखसे कैसे माना जाय कि ब्राह्मणोंके गौड़ कान्यकुब्जादि

दल अत्यन्त प्राचीन और जेता द्वापर के हैं ? ऐसा मानने वाले तो दाबर, अकबर और तुलसी, कवीर को भी उसी समयका मानने लगेंगे ! यदि इन्हें नहीं, तो फिर गौड़, सारस्वत आदिको कैसे मानेंगे ? अतः पाँच सात सौ या अधिक से अधिक हजार वर्ष के भीतर के ही ये ब्राह्मणों के दल और उनके नाम अधिकांश या सभी यवन राज्य-कालके हैं । इसीसे प्राचीन ग्रन्थों में इनका पता नहीं है । इसका विचार "ब्राह्मर्षि वंश विस्तर" और "भास्कर भ्रमभंजन" में किया गया है ।

दस प्रकार के ही ब्राह्मण पाये जाते हैं, यह कथन तो ठीक नहीं है । उन्हीं दसों के भी अनेक छोटे छोटे दल हो गए हैं जो सैकड़ों की संख्या में हैं और इनसे बाहर भी बहुत से हैं । जैसे मैथिलों में भोजि-य, योग्य, पञ्जीवद्ध और जैवार ये चार दल प्रधान हैं । इसी तरह कान्यकुब्जों में भी सयूँपारी, जुमौतिया, कान्यकुब्ज, सनाढ्य और जगन्वंशी ये प्रधान हैं तथा मैथिल और कान्यकुब्ज दोनोंमें भूमिहार, पश्चिमा या जमींदार कहलाने वाले भी हैं । अथवा यों कहिए कि कान्यकुब्जों या सयूँपारियों में जो अयाचक हैं वही अपने को जगन्वंशी, भूमिहार या जमींदार कहते हैं और मैथिलों में जो अयाचक हैं वे जमींदार या पश्चिमा कहे जाते हैं । सनाढ्य भी कभी गौड़ों के दल कहाते हैं तो कभी कान्यकुब्जों के । गोलापुरी ब्राह्मण भी, जो प्रधानतया जमींदार और कृषिपेशा हैं और आगरा, ग्वालियर, कोटा, टोंक, धौलपुर आदि राज्यों और मध्यप्रान्त के नरसिंहपुर आदि जिलों में पाये जाते हैं, सनाढ्यों के ही अन्तर्गत हैं और कोटा तथा टोंक राज्यों के प्रायः १६-१६ ग्रामों में उनका और सनाढ्यों का सहभोज एवं बृन्दा जिले में परस्पर विवाह सम्बन्ध भी होता है । पूर्व देशों के डीह और मूल की तरह पश्चिम में शासन और निकास कहे जाने वाले दोनों के परस्पर सैकड़ों ही एक ही हैं । किसी किसी के विचार से ये गौड़ों के ही अन्तर्गत हैं । अतएव कोटा राज्य के हाड़ौती प्रान्त में गुर्जर गौड़ों के साथ इनका कच्चा खान पान भी

है। इनके मूल स्थान गोलापुर के कारण ही ये गोलापुरी कहाते हैं और इस शब्द को ही बिगाड़ कर कोई गोलापूर्व और गोलापूरख भी कहते हैं। कहते हैं, ग्वालियर नाम गालवपुर का अपभ्रंश है और कभी महर्षि गालव वहाँ रहते थे। संभव है, उसी गालवपुर का अपभ्रंश पहले गोलापुर हुआ हो और पीछे और बिगाड़ के ग्वालियर हो गया हो। अहिवासी ब्राह्मण भी गौड़ों के ही अन्तर्गत हैं। गौड़ों के भी आदि गौड़, गूजर गौड़, छुन्नातिगौड़, तगे या त्यागी गौड़ आदि छोटे छोटे विभाग हैं। कलकत्ते के दैनिक " विश्वमित्र " के २६-१-१९१८ के अंक से यह भी विदित होता है कि जयपुर राज्यान्तर्गत शेखावाटी के मण्डेला स्थान में और अलवर राज्य में भी एक प्रकार के गौड़ रहते हैं जो भूमियाँ कहाते हैं। गोरखपुर के पड़रौना में पं० लक्ष्मीनारायण भूमियाँ एक अच्छे वैद्य हैं। उस लेख में उनके नाम भी लक्ष्मीनारायण भूमिया और सेडूराम भूमियाँ दिए गए हैं। जांचने से पता चला ह-पं० राधाकृष्णजी शर्मा ने, जो सम्भवतः शेखावाटी के ही निवासी गौड़ ब्राह्मण हैं, यह बतलाया है-कि यह भूमियाँ नामधारी गौड़ प्रथम के अयाचक और बड़े बड़े जमींदार हैं और प्रथम व्याह शादी के समय लोग इन्हें बड़ी बड़ी नजरे दिया करते थे! वह रीति आज भी किसी न किसी रूप में पाई जाती है, यद्यपि आजकल उनकी प्राचीन दशा नहीं रह गई है। अस्तु। सारस्वतों के भी ढाई घर, पंजाजाती और महियाल आदि बहुत से भेद हैं। इसी प्रकार गुर्जरों के नागर, औदीच्य, श्रीमाली आदि बहुत से दल हो गए हैं और महाराष्ट्रादि के भी चितपावन, महाराष्ट्र आदि। बंगाली ब्राह्मण भी अपने को कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में से ही बताते हैं। इस प्रकार सैकड़ों दल तो योंही ही गए हैं और फिर इन दलों में प्रत्येक के छोटे छोटे अनेकों दल होकर सहस्रों की संख्या में ब्राह्मण समाज के छोटे छोटे विभाग या दल पाये जाते हैं। इनके अलावा भी बहुत से ऐसे ब्राह्मण हैं जो इनमें से किसी में

(६६)

भी नहीं मिलते । वे न तो अपने को कान्यकुब्ज ही बताते और न दूसरे ही । किन्तु उनका एक निराला ही दल है । जैसे मैथिलों और गौड़ों का एक दल श्रोत्रिय कहाता है । पर, इन दोनों श्रोत्रियों से निराले ही एक प्रकार के श्रोत्रिय मगध में—अधिकांश मुंगेर, पटना, गया और हजारीबाग आदि जिलों में—पाये जाते हैं । इसी प्रकार हाथरस, मथुरा आदिके जिलों में एक प्रकार के ऐसे ही ब्राह्मण पाए जाते हैं जो अपने को और कुछ न कह केवल गौतम बताते हैं । मालवीय और यजुर्वेदी ये दो प्रकार के ब्राह्मण भी पाये जाते हैं जो और यजुर्वेदियों से निराले ही हैं । हाँ, यजुर्वेदी लोग अपने को मालवीयों के अन्तर्गत ही मानते हैं । परन्तु कान्यकुब्जादि से पृथक् ही अपना एक दल बताते हैं । इसके अतिरिक्त गया, आरा और छपरा आदि में मग या शाकद्वीपीय पाये जाते हैं और अपने को ब्राह्मण ही कहते हैं । लेकिन वे न तो पंच गौड़ों में ही हैं और न पञ्च द्राविड़ों में ही और न वे अपने को ऐसा मानते ही हैं । किन्तु अपना एक निराला ही दल मानते हैं । वे भारतवर्ष के निवासी भी नहीं हैं ।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी जान लेना अच्छा होगा । यद्यपि ऊपर दिखलाए अधिकांश ब्राह्मण दलोंके भिन्न भिन्न नाम भिन्न भिन्न स्थानों या देशों में रहने आदि से पड़े हैं । पर, यह कोई नियम नहीं है कि केवल देशों या स्थानों केही नामसे ब्राह्मणों के नाम पड़े हों । मैथिलोंके चारों श्रोत्रिय आदि दलोंके नाम स्थानसे न पड़कर क्रिया या काम सेही पड़े हैं । जैसे जो दल वेदपाठी या वह श्रोत्रिय कहाया और जिसमें पढ़ने आदिकी साधारण योग्यता थी वह योग्य आदि । इसी तरह मगधके श्रोत्रियोंका भी नाम कामसे ही पड़ा होगा ! गौतम, यजुर्वेदी भूमिहार, जमींदार, त्यागी, महियाल, चितपावन और सनाढ्य आदि नामोंके पड़नेका कारण भी देश न होकर क्रिया या गोत्र ही है । जमीन या भूमि के प्राप्त करने से ही जमींदार या भूमिहार कहे गए और अभी तक वही जमींदारी करते ही हैं । इसी तरह महियाल भी मही

या जमीन रखने से ही नाम पड़ा है और प्रतिग्रह या दान का त्याग करने से त्यागी या तगा । इसी प्रकार सनाढ्यों की वंशावली में उन लोगों ने लिखा है कि सन नाम है ब्राह्मणोचित कर्मों का और उन कर्मों से जो ब्राह्मण आढ्य या सम्पन्न थे वही सनाढ्य कहाए इत्यादि । सारांश, ब्राह्मण दलों के नाम स्थान, क्रिया दोनों से ही पड़े हैं । इसी तरह यद्यपि तिहुँतिया, मगधिया और पश्चिमा नामों का अर्थ है तिहुँत, मगध और पश्चिमी प्रदेशों के निवासी । तथापि तिवारी, चौबे, पाठक, चौधुरी, ठाकुर, सिंह, राय, महतो, खां, मिश्र, उपाध्याय और वाजपेयी आदि नाम सिर्फ क्रिया या कामों के ही करने से पड़े हैं । जैसे तीन और चार वेदों के पढ़ने पढ़ाने से त्रिवेदी (तिवारी) और चतुर्वेदी (चौबे) कहाये, वैसे ही चौधुराई करने से चौधुरी, बहादुरी करने से सिंह और खां, रईसी से राय, महान या महत्तर होने से महतो इत्यादि । इसका अधिक विवरण ब्रह्मर्षिवंश विस्तर में है । इतनी बात यहां भी स्मरण रखने योग्य है कि जिस प्रकार ब्राह्मणों के कान्यकुब्ज और गौड़ आदि नाम आधुनिक हैं उसी प्रकार तिवारी, चौबे, मिश्र, राय, सिंह, और खां आदि पदवियां या आस्पद भी । पुराणों और धर्मशास्त्रों में तो केवल शर्मा या उपाध्याय ही पदवी लिखी गई है । सो भी सर्वसाधारण के लिये केवल शर्मा । मैथिलों में तो गांव के गांव पेसे ब्राह्मण हैं जो 'खां' कहे जाते हैं । जैसे दिघवे नगर मूल के मैथिल, जो महिषी के पास बनगांव में रहते हैं, खां उपाधि धारी हैं । यह स्थान दरभंगा जिले के सहरसा स्टेशन के पास है । उसी जिले के अंगार घाट स्टेशन के पास भोरे शाहपुर गांव में भी 'खां' लोग रहते हैं । पश्चिमा या भूमिहारों और महियालों में भी 'खां' लोग कहीं कहीं हैं ।

एक बात यहां पर कह देना आवश्यक है । मगध में अयाचक ब्राह्मण प्रायः 'बामन' नाम से पुकारे जाते हैं जो 'ब्राह्मण' शब्द का अपभ्रंश है । उसका कुछ और अर्थ या तात्पर्य नहीं है । यद्यपि इस

विषय पर अधिक विचार ब्रह्मर्षि वंश विस्तर में किया जा चुका है और इससे अन्यथा कहने वालों का मुंहतोड़ उत्तर भी दिया जा चुका है। तथापि यहां पर थोड़ा और रीति से भी विचार करना इसलिये आवश्यक है कि इस विषय में महामहोपाध्याय पं० हरिप्रसाद शास्त्री एम. ए. जैसों को भी भ्रम हो गया है। मगध में मुख्यतावश ब्राह्मण और वाभन शब्दों के अर्थ में भेद बताया जाता है। याचक या पुरोहिती करने वाले को ब्राह्मण और अयाचक, जमीन्दार या भूमिहार को वाभन कहते हैं। वस, इसी से अनेक कुक्कपनाओं का अवसर लोगों को मिल गया है। पर, जब अन्यान्य देशों में वाभन और ब्राह्मण शब्द का एक ही अर्थ समझा जाता है और लोग ब्राह्मण शब्द का ही अपभ्रंश वाभन शब्द मानते हैं, तो फिर मगध में निराली गंगा बहाने और उन दोनों शब्दों के दो अर्थ मानने में कौनसी बुद्धिमानी है? वहां भी वास्तव में जो ही अर्थ ब्राह्मण का वही वाभन का समझना चाहिये। परन्तु यदि लोग ऐसा नहीं करते तो उनकी सुखता है। इस सम्बन्ध में दो दृष्टान्त ऐसे हैं जिनसे पूर्वोक्त सिद्धान्त और भी दृढ़ हो जाता है। एक तो परिडत शब्द का, दूसरा आचार्य शब्द का। इस बात को प्रायः सभी जानते और मानते हैं कि परिडत शब्द का अर्थ है विवेकी, विद्वान्, सत् असत् का विचार करने वाला। यह अर्थ साधारणतः प्रसिद्ध है और इससे बढ़कर तो परिडत शब्द का जो अर्थ है वह केवल शास्त्रीय है और हमें यहां उससे प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि आचार्य शब्द का अर्थ मनु, याज्ञवल्क्य आदि के अनुसार समस्त वेद वेदांगादि का पढ़ाने वाला है। तथापि साधारणतः जो विद्वान् हो और यज्ञ यागादि क्रियाओं को विधिवत् करे करावे उसे ही-उसी ब्राह्मण को-लोग आचार्य कहा करते हैं और आचार्य शब्द का यही अर्थ यथार्थ में है भी। परन्तु इधर आज कल एक दूसरी ही धारणा साधारणतया लोगों के दिल में समाई है और वह सरासर मिथ्या एवं अनुचित है। सम्प्रति

साधारणतया लोग परिडत का यह अर्थ समझने लगे हैं कि जिसकी जाति ब्राह्मण हो और जो दूसरे के द्वार पर टुकड़े तोड़ता हो; प्रतिग्रह से जीवन निर्वाह करे; पुरोहिती और कान फूकनाहीं जिसके जीवन का आलम्बन हो ! सारांश, याचक या पुरोहित ब्राह्मण के कुल में जन्म हो जाना चाहिये, चाहे 'काला अक्षर भैंस बराबर' ही उसके लिए क्यों न हो, इसकी पर्वाह नहीं ! वह अवश्यमेव परिडत कहा जायगा ! बस पुरोहित कुल में एकमात्र जन्म लेने से ही परिडत शब्द सदाके लिये उसकी बपौती हो जाता है ! फिर चाहे वह दुराचार में परिडत, कुशल या प्रवीण भले ही हो, परन्तु शास्त्र में कुशल हो यान हो ! शास्त्र के सम्पर्क की तो आवश्यकता ही नहीं है ! बात यह है कि छपरा जिले से लेकर तिहुत के मुजफ्फरपुर आदि जिलों में कुम्हारों के नाम के साथ परिडत शब्द जुटा रहता । जैसे और और देशों में फलां राम या फलां दास इत्यादि कहे जाते हैं वैसे ही वहां अमुक परिडत यही व्यवहार होता । मैंने रास्ते में अचानक एक आदमी से मिलने पर पूछा तो उसने अपना नाम मल्लू परिडत और कुम्हार जाति बताई । उनकी स्त्रियां भी इसी प्रकार परिडताइन या परिडतानी कहलाती हैं । उस जाति में परिडत शब्द के इस तरह प्रचार का कारण जांचने से मालूम हुआ कि कुछ समय पूर्व तिहुत के किसी राजा के द्वार में परिडत कहाने वाले ब्राह्मण और एक कुम्हार दोनों बैठे थे । राजा ने अकस्मात् ब्राह्मण देवता से पूछा कि कहिये परिडतजी आजकल कौनसी ऋतु बीत रही है । यह सुनकर परिडतजी आगा पीछा करने और पञ्चांग ढूँढ़ने लगे । इतने में कुम्हार ने हाथ जोड़कर कहा कि धर्मावतार यदि आज्ञा हो तो मैं अपनी समझके अनुसार बताऊं । आज्ञा पाने पर उसने कहा कि अमुकीं दिन से ज्यों ही कच्चे वर्तन गढ़कर तैयार करता हूं त्यों ही भटपट सूख जाते हैं । इस लिये उसी दिनसे नियमानुसार अमुक ऋतु होनी चाहिए । अन्त में पञ्चांगकी मिलान करने से उसकी बात सोलह आना पाव रत्ती ठीक

(७३)

निकली ! इस पर राजा ने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा कि तुम और तुम्हारी जाति सचमुच परिडत है । तुम लोगों को परिडतही कहना चाहिये । वस, उसी दिनसे वहाँके कुम्हार पंडित कहे जाने लगे और वही बात आजतक पाई जाती है । परन्तु यह किस्सा बहुतही कम लोग जानते हैं । इसीलिए छपरे के एक कुम्हार से जब हमने पूछा कि तुमलोग तो परिडत कहेजाते हो न ? सो क्यों ? इसपर उसने कहा कि, नहीं महाराज, हमलोग परिडत नहीं कहेजाते हैं, किन्तु 'पंडित' । परिडत तो ब्राह्मणलोग कहाते हैं । इससे अधिक वह कुछ न कह सका । पाठक, यह कैसी विचित्र बात है ? देखिये, मूर्खतावश यह न समझ कर कि देहातों में गंवार लोग परिडत शब्दको ही बिगाड़कर पंडित कहा करते हैं, उसने तथा उस प्रान्तके अन्यान्य लोगों ने भी परिडत तथा पंडित शब्दों का अलग अलग अर्थ समझ रक्खा है ! उनकी समझ में परिडत एक दूसरी जातिही है और पंडित औरही जाति ! वे कभी पंडित शब्दको परिडत शब्द का अपभ्रंश (बिगड़ारूप) नहीं मानते । पर, क्या इतनेही से सचमुच परिडत तथा पंडित शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ माने जासकते हैं और क्या ऐसा मानना ठीक होगा ?

दूसरी बात आचार्य शब्दकी है । शास्त्रीय रीतिके अनुसार सभी यज्ञ, होम, श्राद्ध आदिकर्मों के जानने तथा करने कराने वाले को ही आचार्य कहते हैं । फिर वह चाहे ब्राह्मण हो या अन्य जातिवाला । अधिकांश आचार्य ब्राह्मणहीं हुआ करते हैं । पर, सर्वथा यही नियम नहीं है । कभी कभी अन्य जाति के भी लोग आचार्य होजाते हैं, जैसे आपत्ति काल में ब्राह्मण का आचार्य क्षत्रिय हो जाता है । या योग्य ब्राह्मण के न मिलने पर अन्यान्य लोग भी श्राद्धादि कर्म कराते हैं । दक्षिणा की बात दूसरी है । चाहे उसे ब्राह्मणहीं क्यों न ले । परन्तु आजकल जनताकी यही धारणा है कि हर हालत में केवल ब्राह्मण ही आचार्य हो सकता है, सोभी पाचक या पुरोहित दल काही । इसी भ्रममूलक धारणा के अनुसार एक विचित्र बात देखी जाती

है। युक्त प्रान्त के मेरठ आदि पश्चिमी जिलों में महापात्र या महाब्राह्मण को भी कभी आचार्य कहते थे। वह केवल इसलिये कि मरण समय में एकादशाह के दिन वही सम्पूर्ण श्राद्धादि कर्म कराता है। इसलिये उचित तो था कि केवल श्राद्धादि कराने के समय ही उसे आचार्य कहते। मगर, काल पाकर महापत्रों की जाति को ही लोग आचार्य कहने लगे। पर, इधर जब लोगोंकी यह मिथ्या धारणा हो गई कि आचार्य तो पुरोहित ब्राह्मणहीं कहाता है। महापात्र तो पुरोहित नहीं। उसे आचार्य कैसे कहसकते हैं? तो फिर ठीक परिङित शब्दकी ही तरह आचार्य शब्दकी भी दुर्वशा की जाने लगी। फल यह हुआ कि महाब्राह्मणों को लोग अचारज कहते हैं और पुरोहित दलवालोंको आचार्य। यद्यपि आचार्यशब्दकाही अपभ्रंश 'आचारज' या 'अचारज' है। पर अब लोग वैसा न समझ उसे एक निराला ही शब्द समझने लगे हैं और तदनुसारही अचारज जातिभी दूसरी समझी जाती है। आचार्य तथा अचारज को लोग एक नहीं समझते। पर, क्या यह विचार या व्यवहार, जो उन लोगों में हो रहा है, ठीक है? क्या सचमुच आचार्य और अचारज की दो जाति मानना उचित और यथार्थ है? फिर बाभन और ब्राह्मण शब्दों के सम्बन्ध में ही क्यों बड़े बड़े परिङित 'बालकी खाल खींचते' हैं? उसी में सारी परिङिताई खर्च करने की क्या जरूरत है? यथार्थ में यह केवल पक्षपात, परस्पर द्वेष और अनभिज्ञता का ही फल है। अस्तु।

यह तो हुई ब्राह्मणों की दलबन्दी एवं परस्पर द्वेष और पक्षपात की भी थोड़ी बहुत बात। परन्तु, इस परस्पर द्वेष की बात का थोड़ा विस्तृत रूप भी देख लेना चाहिये। ब्राह्मणों के ये जितने दल हो गए हैं सभी अपनी ही अपनी उत्तमता और पूज्यता की डींग हाँकते और अन्यो को नीच ठहराते हैं। कान्यकुब्ज लोग अपने सामने किसी को समझते ही नहीं। वे कहते हैं कि—

कान्यकुब्जाद्विजाः श्रेष्ठा धर्मकर्मपरायणाः ।

प्रलये नापि सीदन्ति यदि कन्या न जायते ॥

“ कान्यकुब्ज ब्राह्मण सभी से श्रेष्ठ और धर्म कर्म में तत्पर हैं । यदि उनके घर कन्या उत्पन्न न हो तो वे प्रलय काल में भी दुःखी नहीं हो सकते ” (का. चि. ७३) । यहाँ तक कि वे अपने ही घर में एक दूसरे को नीच बनाते हैं । उनके ही घर में कुलीन, पञ्चादर और धाकर ये तीन विभाग हैं, जो क्रम से उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ कहाते हैं । फिर छ कुल और दस कुल का झगड़ा चलता है । उसमें भी मर्यादा की विश्वा चलती है । किसी की मर्यादा २० विश्वा है तो दूसरे की साढ़े उन्नीस, और तीसरे की १८, १७ इत्यादि ! सूर्यपारियों को देखिए तो पंक्तिपावन परिचय आदि ग्रन्थ लिख कर अपने आप सर्वोत्तम पंक्तिपावन बन बैठे और दूसरों को उस पद से वेदखल करने का यत्न किया ! उन्होंने देखा कि पंक्तिपावन ब्राह्मणों का पद सबसे ऊँचा है । इसलिये उसे ही दखल करो । दूसरों को वहाँ से हटाओ । फल यह हुआ कि दूसरों को नीचा दिखाने की आदत पड़ते पड़ते आपस में भी वही बात होने लगी और तान्तेरह के दो दल बन गए, जिनमें तीन-गर्ग, गौतम शाण्डिल्य—ने तेरह को हीन ठहराया । फिर उनमें भी पंतिहा और टुटिहा-पंक्तिबद्ध और त्रुटित-की बात चली और पंतिहा लोग टुटिहों को हीन बनाने लगे । इसके बाद उन्हीं के घरमें एक महारथी बटुक प्रसाद मिश्र भास्कर, गोवर्धन सराय, काशी के निवासी निकले, जिन्होंने अपनी एक निरालीही डफली बजाई तथा सूर्यपारियों में ही कुछ लोगों को सूर्यपारी और शेष अपने दल को सारवावारी नाम दे डाला ! साथही, सूर्यपारियों, कान्यकुब्जों तथा शेष ब्राह्मणों को क्षात्रोपेत, मनुवंशज (क्षत्रिय से बने) ब्राह्मण कह केवल अपने दलवाले सारवावारियों को ही अग्रजन्मा ब्राह्मण कहा ! ब्राह्मणोत्पत्ति भास्कर में यह कह

कर जब सन्तुष्ट न हुए तो “अग्रजन्मादि ब्राह्मणोत्पत्ति भास्कर” नामकी पुस्तिका में भी इबड़ वही बातें लिख अन्यान्य ब्राह्मणों को दोगले बनाकरही सांस ली ! आप लिखते हैं—“उक्त कारणों से यह स्वयं सिद्ध है कि सूर्यनदी के उत्तर तट से उत्पत्ति होने के कारण अग्रजन्मा ब्राह्मणों की संज्ञा आदि में सारवावारीण और उक्त नदी के दक्षिण तट से उत्पन्न होने के कारण मनुवंशज ब्राह्मणों की संज्ञा आदि में सूर्यपारी विख्यात हुई । पश्चात् कोशलदेश के अतिरिक्त अन्य देशों में वास करने के कारण इनके सन्तानों की संज्ञा उनके देशानुसार प्रचलित हुई । दक्षिण कोशल देश के अतिरिक्त अन्य देशों में भी मनुवंशज ब्राह्मणों की उत्पत्ति मनुके सन्तानों से हुई है । परन्तु मूल उत्पादक मनु के कारण उनकी आदि संज्ञा सूर्यपारीण माननीय है । अतएव जिनके प्रवरों में वैश्वाभिन्न का प्रयोग देख पड़े उनको मुख्य कान्यकुब्ज जानना” । इसी तरह कान्यकुब्जों ने भी सनाढ्य आदि को हीन ठहराया और एक ने यहाँ तक कह डाला कि “संन्यासीपुत्रः सनाढ्यः” । शाकद्वीपियों को तो सभी ब्राह्मण समुदाय ने ब्राह्मण समाज से अलगही समझा, या अगर किसी कदर कुछ माना भी तो यज्ञादि में जाने योग्य नहीं ठहराया । जैसा कि कान्यकुब्ज वंशावली में लिखा है कि—

कान्यकुब्जा द्विजाः सर्वे मागधं माथुरं विना ।

शाकद्वीपनिवासीनं तौरान्साहमोचकान् ॥

मागधा माथुरास्तौरा शाका सान्नाहमोचकाः ।

यज्ञादौ नहि पूज्यन्ते स्थाने पूज्या भवन्ति हि ॥

“मागध, माथुर, शाकद्वीपी, तौर, सन्नाह (सनाढ्य) और मोचकों को छोड़ शेष सभी ब्राह्मण कान्यकुब्ज ही हैं । इन पूर्वोक्त मागध आदि की यज्ञ में पूजा नहीं होती है । हाँ, अपने स्थान पर

भले ही होती हो" । मिथिला आदि देशों में तो यहाँ तक कह डालते हैं कि—

कूष्माण्डं महिषीक्षीरं विल्वपत्रं मगद्विजाः ।

चत्वार्येतानि वस्तूनि श्राद्धेषु परिवर्जयेत् ॥

“कुम्हड़ा, भैंसका दूध, विल्वपत्र और शाकद्वीपी ब्राह्मण इन चारों को श्राद्ध में नहीं आने देना चाहिये” । इतना ही नहीं, मैथिल लोग अन्य ब्राह्मणों को अत्यन्त हीन समझते हैं । यहाँ तक कि साधारण बोल चाल में गौड़, कान्यकुब्ज आदि को इतर या अन्य ब्राह्मण न कह कर प्रायः ‘इतर जाति’ ऐसा कहा करते हैं ! पूर्वोक्त मैथिलों आदिने आपस में ही यह भी प्रचार कर रखा कि हमारे ही समाज में सवालालाख ऐसे ब्राह्मण विद्यमान हैं जो भिन्न भिन्न समय में जरासन्ध आदि द्वारा नीच जातियों को यज्ञोपवीत आदि पहना कर बना दिए गए हैं और सवालालाखी कहे जाते हैं जैसा कि ‘पंक्ति पावन परिचय’ में लिखा है कि—“ सुना है, इसी राजा यवनारि के यज्ञ में सवालालाख ब्राह्मण खिलाए गए । उनमें से बहुत अन्य जाति को भी ब्राह्मण बनाकर (ब्राह्मणों के अभाव से) मंत्रियों ने खिला दिया । अन्त में राजाज्ञा से ब्राह्मणों को उन्हें अपने में मिला लेना पड़ा । तभी से वे निन्द्य ब्राह्मण समझे जाते हैं । यह कथा ईश्वर जाने कहाँ तक सत्य है । पर ऐसी कथा सब देशों में ही सुनी जाती है । सुनते हैं कि मिथिला में राजा सेवई सिंह ने भी इसी भांति सवालालाख का संकल्प किया और उसमें भी यही सब बातें हुई और खूंदीफरोश, ढकनीफरोश, सूअरगन्धि, दड़ियरे मिला लिए गए । दाक्षिणात्यों में भी ऐसी ही मिलती जुलती कथा है” । कान्यकुब्जों में अमतारा के पाठकों आदि की भी ऐसी ही कथा कही जाती है ।

इधर पंचगौड़ों के घर में परस्पर गाली गलौजकी यह बात तो बहुत पुरानी नहीं है । परन्तु दाक्षिणात्यों ने बहुत पहले से ही जो

(७८)

पद इधर के ब्राह्मणों को दे रक्खा है वह भी सुनने ही योग्य है। समानता का दावा तो दूर रहे, उन्होंने तो इस देश के सूर्यपारी, मैथिल या कान्यकुब्ज आदि के हाथ का पानी तक पीना भी अनुचित मान रक्खा है ! इनके लिये उनके शब्द सागर में रांगड़े और काशी-शूद्र शब्द ही हैं ! वे लोग न तो प्रथम इन्हें वेद पढ़ाते थे और न संन्यास ही देते थे। वही बात आज तक भी है। पर, अब तो इन लोगों में कुछ वेद और संन्यास का प्रचार हो जाने से काम रुका नहीं है, किन्तु चला जा रहा है। लेकिन प्रथम तो रुक ही गया था। यही बात श्रीमान स्वामी विशुद्धानन्दसरस्वती जी के जीवन चरित्र "विशुद्धचरितावली" के प्रथम भाग के १०६, ११० पृष्ठों में 'सुदर्शन' सम्पादक पं० माधव प्रसाद मिश्र ने इस प्रकार लिखी है—“संन्यास ग्रहण करने की इच्छा से विरक्त भगवान् दत्त (भविष्य गौड़ स्वामी तारकब्रह्मानन्दसरस्वती-स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती के गुरु) घर से निकले। सोचा कि कहाँ चलें। चले तो चलें, पर, काशी में तो कोई दक्षिणी गौड़ ब्राह्मण को संन्यास न देगा। उन अभिमानियों के समीप तो गौड़ ब्राह्मण ब्राह्मण ही नहीं हैं; तुच्छादपि तुच्छतर तुच्छतम हैं। फिर वहाँ जाना बृथा है। दक्षिण देश में चलें, वहीं किसी महात्मा से संन्यास ग्रहण करेंगे”। “गौड़ ब्राह्मणों के लिये अब तक संन्यास का मार्ग दाक्षिणात्य लोगों की हठ रूपी अर्गला से अवरुद्ध था। अब उसे उन्मुक्त हुआ देखकर गौड़कुल के इस सबसे प्रथम संन्यासी को सब काशीवासी “गौड़ स्वामी” कहने लगे। महाराष्ट्रों के राज्यसमय में कितने ही अहंकारोन्मत्त दक्षिणी पंडित पंचगौड़ ब्राह्मणों को ‘रांगड़ा’ अर्थात् वात्य वा नीच के नाम से घृणा के साथ पुकारा करते थे और अपने को आदर्श स्वरूप चरित्रवान् ब्राह्मण समझते थे। उनके इस अनुचित नामकरण का प्रतिवाद करने की सामर्थ्य उस समय पंच गौड़ जाति में विद्यमान न थी। दक्षिणी लोगों ने गौड़ ब्राह्मणों को वेद पढ़ाना और अग्रवाल वैश्यों को वेद सुनाना भी छोड़ दिया।

(७६)

सुतरां, गौड़ ब्राह्मणों के विरुद्ध जो संस्कार पहले पहल केवल अदूर-दर्शी, अहंकारी पुरुषों के हृदय में उत्पन्न हुआ था, शेष में उसने दक्षिणात्यमात्र के हृदय पर अपना अधिकार कर लिया । उसी कुसंस्कारका यह फल हुआ कि गौड़ ब्राह्मण जाति ही संन्यास के अयोग्य समझी गई ! यही हाल इस देश के अयाचक ब्राह्मणों के भी सम्बन्ध में अन्यान्य ब्राह्मणदल ने कहीं कहीं करना शुरू किया था और अब भी कहीं कहीं उस बात की गन्ध पाई जाती है । इस देशके अयाचक कहीं पश्चिमा, कहीं बामन, कहीं भूमिहार, कहीं जमींदार, कहीं तगे या त्यागी और कहीं महियाल, जगन्वंशी आदि कहे जाते हैं । इनके सम्बन्ध में भी वही पूर्वकी तरह बहुत सी कथाएँ रची जाती हैं । काशी के समीपवर्ती तथा उससे पूर्व के जिलों में रहने वाले बहुत से पुरोहित ब्राह्मण इनके सम्बन्ध में अनेक बेहूदे प्रश्न किया करते हैं और उत्पत्ति आदि की बातें भी बहुत चलती हैं । उन भलेमानुसों को यह तो कहाँ से मालूम होगा कि जब सूर्यपारी, कान्यकुब्ज और मैथिल आदि की उत्पत्ति का ही ठिकाना नहीं, तो फिर त्यागी, भूमिहार, पश्चिमा या जमींदार आदि की उत्पत्ति कहाँ मिलेगी ? हाँ, शास्त्रों में केवल ब्राह्मणों की उत्पत्ति मिलती है जो सब के लिये बराबर ही है । बलिक गाजीपुर, बलिया और आरा आदि जिलों के पुरोहिती करने तथा अपने को ब्राह्मण कहने वालों की दशा तो और भी शोचनीय है । उनसे यदि प्रश्न किया जाय कि आप कौन ब्राह्मण हैं, तो कभी अपने को कान्यकुब्ज बतायेंगे और कभी सूर्यपारी बनेंगे । आरा-निमेजके ओझा लोग बहुत दिनों से अपने को कान्यकुब्ज कहते कहते, अब हालमें सूर्यपारी सभा कराकर सूर्यपारी कहने लगे हैं ! फिर भी अभी तक अधिकांश कान्यकुब्ज ही बनते हैं ! इतना ही नहीं । उनमें एक तीसरा दल यह कहता है कि हम लोग मैथिल हैं ! मिथिला से दो मैथिल चक्रपाणि झा और शूलपाणि झा निमेज में आये थे, जिनके नाम अभी तक मिथिला के पुराने पञ्जीकारों

की पक्षी में पाये जाते हैं। वस, उन्हीं में से एक के वंशज निमेज के ओम्हा कहाते हैं और दूसरे के वंशज उन्हीं लोगों के महाब्राह्मण। उनके पुरोहित पराशर गोत्री ओम्हा हैं जो सुरगुनियाँ कहाते हैं। यह सुरगुनियाँ मैथिल सुरगने से बना मालूम होता है। सुरगने भी पराशर गोत्री ही हैं। यह लीला यहीं खतम नहीं होती। गाजीपुर के नारायणपुर आदि ग्रामवासी किनवार नामधारी भूमिहार ब्राह्मणों के पुरोहित अपने को नगवा कहते हैं। उनकी वंशावली मुझे स्वयं देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। उससे प्रगट है कि किनवार, नोन-हुलिया, कुढ़नियाँ (आजमगढ़ के सूर्यपुर आदि के भूमिहार ब्राह्मण) नगवा, वीरपुर के बहियार उपाध्याय और निमेज के ओम्हा ये सब एक ही के वंश में हुए और मूल में एक ही हैं। इन सबों का गोत्र कश्यप है इसमें तो संदेह नहीं। यह दुर्दशा तो सब से बड़े और धनी माना बनने वाले निमेज के ओम्हा लोगों की है।

इसके सिवाय आरा आदि पूर्वोक्त जिलों में ऐसे बहुत ब्राह्मण पाये जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में किम्बदन्ती है कि वे आरा-चैनपुर के क्षत्रिय राजा शालिवाहन के पुरोहित हरसू पाण्डे के द्वारा उसी राजा के यज्ञ में नीच जातियाँ से पूर्वोक्त सवालखिलियों की ही भाँति ब्राह्मण बनाये गये। इस किम्बदन्ती का कारण यही है कि वे लोग अपना पता ठीक ठीक बता नहीं सकते। बात यह है कि जो ब्राह्मण इन प्रान्तों में रहते हुए भी अपने को कान्यकुब्ज या सूर्यपारी बताते हैं उन्हें अपने पूर्वजों का सूर्यपार या कान्यकुब्ज देश में होने वाला मूल स्थान बताना पड़ता है, जहाँ से वे लोग इस देश में आए। नहीं तो फिर कैसे पता चलेगा कि यह लोग आदि में कान्यकुब्ज देश के थे अथवा सूर्यपार के? उसी मूल स्थान को पश्चिम के जिलों में निकास, काशी के समीप डीह और मिथिला में मूल के नाम से पुकारते हैं। परन्तु ये पूर्वोक्त आरा, बलिया, गाजीपुर, आदि जिलों के प्रायः सभी, नहीं तो अधिकांश, कभी तो सूर्यपारी बनते हैं और

(८१)

कभी कान्यकुब्ज । तिस पर भी तुरा यह है कि अपने आपको सूर्यपारी बताकर अपने पूर्वजों का डीह कान्यकुब्ज देश में बताते हैं, न कि सूर्यपार में । इन दोनों की अपेक्षा और भी अधिक संख्या वाले वे हैं जिनके डीह न तो सूर्यपार में ही हैं और न कान्यकुब्ज में ही । जैसे नगवा पाण्डे, बटवा उपाध्याय, पंड़री के तिवारी, अग्रहरी के दूबे, अचैयां पांडे, निमैज के ओझा, बेलौटी के तिवारी, गारा के चौबे, ओड़ी बैरी के तिवारी, ओड़हुला के पाठक, करिगहिया, तिवारी, बघिया दूबे, सुअराटांड के मिश्र, चोरकांड के मिश्र, चकौंद पांडे, ओयनासोनबरसा के पांडे इत्यादि । इसी तरह बड़नियां, सिलवटिया आदि जानना चाहिये । इन स्थानों में से अधिकांश बलिया और आरा आदि में ही हैं और कुछ का पता ही नहीं है । आरा-कोइलवर से दक्षिण रामासांद, चेला, सुरंगापुर, पहाड़पुर, मांडनपुर, और बेलौटी आदि के सूर्यपारी नामधारी अपने हाथों खूबही हल भी जोतते हैं । “अगर बेलौटी रामासांद । ये सब तो हर गहें अपार” । नारायणपुर में बहुत से ऐसे हैं जो कभी भार्गव बनते हैं तो कभी भारद्वाज और अपने को कान्यकुब्ज कहते हैं । पर अपना डीह बताने हैं सूर्यपार में बृहद्गाँव । गाजीपुर के शेरपुर, रेवतीपुर आदि के उपाध्याय लोग अपने को भारद्वाजगोत्री कहते हैं और डीह बताते हैं जगवल; जिसका पता न तो सूर्यपारियों की ही वंशावली में है और न कान्यकुब्जों की ही वंशावली में । इसी प्रकार रेवतीपुर के पांडे कहाने वाले अपने को वहाँ के पूर्व निवासी कस्तुवारब्राह्मणों के पुरोहित कहते और अपना गोत्र पराशर बताते हैं । यद्यपि वे अपनेको कान्यकुब्ज कहते, पर सूर्यपार में सिलासान नामक अपना डीह बताते हैं ! एकवात और भी है । कस्तुवारों के वर्त्तमान पुरोहित भी पाण्डे ही कहाते हैं और अपना गोत्र वसिष्ठ बताते हैं । [यह भी स्मरण रहे कि कस्तुवारों का भी गोत्र वसिष्ठ ही है । सम्भव है कि उनके वसिष्ठ गोत्री पुरोहितों का भी वही हाल हो जैसा कि अधिकांश हुआ करता

था कि एक भाई यजमान बन गया तो दूसरा पुरोहित । जैसा कि नगवा लोगोंका किनवारों के साथ दावा है । पर निस्सन्देह यह दशा गड़बड़ीसे खाली नहीं और इसीसे सन्देह होता है । लोग वर्त्तमान पुरोहितों के गोत्र और डीह सही मानें या रेवतीपुरवालों के अथवा दोनों के ? हमारे इस कथन का यह आशय कदापि नहीं कि यह पूर्वोक्त ब्राह्मणदल ब्राह्मण समाज से बहिष्कृत कर देने योग्य हैं, ब्राह्मण नहीं हैं या वास्तव में नीच हैं । यह स्वीकार करनेको हम कदापि तत्पर नहीं हैं । किन्तु, हमारा तात्पर्य यही है कि यही पूर्व प्रदर्शित आरा, बलिया, गाजीपुर आदिके महारथी लोग भूमिहारों या अन्यान्य अथाचक आदि ब्राह्मणों के सम्बन्ध में अनेक ऊटपटांग बातें कहा करते और कल्पनायें किया करते हैं । परन्तु स्वयं अपनी दशा विचारते ही नहीं । जिन्हें अपना हाल विदित ही नहीं उन्हें ही दूसरे ही की फिक्र पड़ी है, यही तो विचित्रता है ! उनमें कोई कोई जो कुछ थोड़ी बहुत उलटी सीधी बातें अपने सम्बन्ध में बताते भी हैं, वह भी इसलिये नहीं कि उन्हें परम्परा से उनका ज्ञान प्राप्त है । किन्तु आजकल की छुपी छुपाई कान्यकुब्जों तथा सयूँपारियों की वंशावलियां देखकर ही उन्हीं में से अपने गोत्रों के कुछ डीह आदि याद कर लेते हैं । बस, यही तथ्य है । ऐसी दशामें इन भलेमानुसों का दूसरे पर आक्षेप वा उसके विषय में खोद विनोद करना क्या कभी भी उचित है ? यह कौनसी बुद्धिमत्ता कही जा सकती है कि स्वयमेव शीशेके मकान में रहकर दूसरों के ऊपर ढेले फेंके ? पर, किया क्या जाय, संसार की ऐसी ही दशा है कि “ अपने ढेंढ़र को न देखे और नैरों की फुल्ली निहारे ” ! यदि सच पूछा जाय तो इस पूर्व प्रदर्शित गाली गलौज और ब्राह्मणानुचित कर्मों को त्याग सभी ब्राह्मण दलों को परस्पर भ्रातृभाव से रहना एवं शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन, सत्कर्मों के अनुष्ठान आदि में अपना समय-अमूल्य समय-लगाकर गई बीती पूर्वकीर्त्तिकौमुदीको पुनरपि उद्दीपन करना चाहिये । और

(८३)

यदि किसीको किसी दूसरे ब्राह्मण समाज पर कटाक्ष अथवा दोषा-
रोपण करके जोंक काही कर्म करना रुचे तो उसके लिये भी यही उचित
है कि प्रथम अपना पूरा हाल जानले और बाद को जिस समाज में
दोष दिखाना अपना धर्म समझता हो उसका भी पूरा पूरा विवरण जान
ले। पीछे से भलेही अपनी मलिनता का परिचय दे। उसे रोकने
कौन जाता है और ऐसे महापुरुषों को रोकही कौन सकता है ?

भला कहिये न, अयाचक-तगा, भूमिहार, पश्चिमा आदि-ब्राह्मणों
के तो सूर्यपारियों, कान्यकुब्जों, मैथिलों और गौड़ों के साथ लड़की
लड़के दोनों के विवाह परस्पर होते हैं। जैसा कि पूर्व कहा गया
है और ब्रह्मर्षिवंशविस्तर से भी स्पष्ट है। यदि यह बात न
होती तो खन् १६११ ई० वाली भागलपुर की मैथिल महासभा में
इस विवाह के रोकने का प्रस्ताव ही क्यों किया जाता ? यह भी बात
उक्त ग्रन्थ में लिखी गई है। इसके अलावा मैथिल महाराजाओं के
जो पत्र पश्चिमा ब्राह्मणों के पास आये हैं और जिनकी नकल उक्त
ग्रन्थ में लुपी है, उनमें वे लोग इन ब्राह्मणों को नमस्कार क्यों
लिखते आये हैं ? वर्त्तमान महाराज सर रमेश्वरसिंह ने श्री कामेश्वर
नारायणसिंह, नरहनु, को जो पत्र महामहोपाध्याय चित्रधर मिश्र
द्वारा भिजवाया था और जिसकी नकल वहां ही दी गई है,
उसमें उन्होंने ने उन्हें नमस्कार क्यों लिखा है और उन्हीं के वंश के
पूर्व महाराजे द्विजराज काशीराज के वंश के महाराजाओं को प्रणाम क्यों
करते और लिखते आये हैं ? रीवां और दुमरांव के क्षत्रिय महाराजा-
ओं ने सदा से ही भूमिहार ब्राह्मणों को पालागन ही किया है।
यह बात भी वहां सप्रमाण लिखी गई है। अभी तो हाल में ही
दुमरांव के महाराजा राधाप्रसादसिंह की मृत्यु के उपरान्त महारानी
साहिबा के दर्बार में कुछ दुष्टों ने ऐसी चाल चली थी कि वहां के ही
चौधुरी टोले के चौधुरी विगनराय वगैरः को जो महाराजे लोग
सदासे पालागन, प्रणाम करते आये थे और ब्राह्मणोचित सत्कार

(८४)

करते थे, वह बन्द कर दिया जाय और थोड़े दिनों तक यह बात होना भी शुरू हुई। इसपर प्रारम्भ में ही पूर्वोक्त चौधुरी साहब ने दरबार छोड़ दिया और दरबार से आये हुए अपने पासके उन पुराने पत्रों को इकट्ठा करके महारानी के पास भिजवा दिया, जिनमें पालागन, प्रणाम लिखे गए थे। वस, इसीपर उनकी विजय हुई और वही बात आज तक चली जा रही है। पिपरा-नेपालराज्य-के सूबा पंडित गोपालमिश्र तथा उनके वंशजों का, जो बसमैत मूल के गर्गगोत्री पश्चिमा ब्राह्मण हैं, नेपाल दरबार में ब्राह्मण का मान चला आता है और अभी तक दरबार में उनका ब्राह्मणोचित आदर सत्कार ही होता है। इसके अतिरिक्त इन भूमिहार ब्राह्मणों को कान्यकुब्ज ब्राह्मणों ने ऐसा उच्च आसन दिया है कि काश्यप गोत्री कान्यकुब्जों का मूलपुरुष भूमिहारों को ही माना है। उन मूलपुरुष का नाम अनन्तराम और उनके लड़के का नाम गर्भू था, जिनसे ही उनका विस्तार हुआ। वह कानपुर के मदारपुर नामक स्थान के निवासी थे। यह बात कान्यकुब्ज वंश-वर्णियों में प्रायः सर्वत्र पाई जाती है और इसका सविस्तर विवरण ब्रह्मर्षिवंशविस्तर में है।

यदि सूर्यपारियों की ओर देखें तो वहां भी एक बात कान्यकुब्जों की ही तरह पाई जाती है, जो आज तक विपरीत ही कही जाती थी। बात यह है कि विसेन क्षत्रियों और पयासीमिश्रों की कथा लिखते हुए मझौली के लाला खड्गबहादुरमल ने "विसेनवंश-चाटिका" में यह लिखने का साहस किया है कि सारस्वत ब्राह्मण मयूरभट्ट केही वंश में पयासी के मिश्र, विसेन क्षत्रिय और हथुवा आदि के बगौड़िया ब्राह्मण हैं। यद्यपि इस बात का सप्रमाण और विस्तृत खण्डन ब्रह्मर्षिवंशविस्तर में किया जा चुका है और वहां यह बात और ही प्रकार से सिद्ध की गई है। पर, उसके बादके अन्वेषणों से यह पता चला है कि मयूरभट्ट सारस्वत ब्राह्मण न होकर सोनभदरिया मूलके भूमिहार ब्राह्मण, वत्सगोत्री थे।

(८५)

इस बातको सभी मानते हैं कि वह गया जिले में सोनके किनारे रहते थे और कुछ होने पर उन्होंने ने गया-देव (मूंगा)-के सूर्यमंदिर में सूर्यकी आराधना भी की थी । वस, इसीसे हमारी बात पुष्ट हो जाती है । उस देव के सूर्य मन्दिर के पुजारी बहुत दिनोंसे सोनभद्र-रिया ब्राह्मण होते चले आते हैं और मन्दिर भी उन्हीं के अधिकार में था । वे लोग अपने को मयूरभट्ट के वंशज कहते हैं । वहां ऐसी ही प्रसिद्धि है । यद्यपि इधर कुछ दिनों से कई कारणों से उन लोगों ने धीरे धीरे शाकद्वीपियों के हाथ अपना मन्दिर कईवार करके बँच डाला है । फिर भी अभी तक उस मन्दिर का आध आना हिस्सा साक्षी देने के लिये उन्हीं लोगों के हाथ में है और उस में दो हिस्सेदार पं० सुद्धूपाण्डेय और पं० खेदा पाण्डेय हैं । इससे प्रगट है कि भूमिहार ब्राह्मणों के ही वंशज पयासी के मिश्र सूर्यपारी हैं । विसेन क्षत्रियों की तो बात ही क्या कहनी है ? फिर, उन्हीं ब्राह्मणों पर कटाक्ष करना या उन्हें ही नीचा दिखाने का साहस करना मूर्खता, दुष्टता तथा हृदयकी मलिनता नहीं तो और क्या है ? निस्सन्देह इसका एक यह भी कारण है कि इतर ब्राह्मण दलों की अपेक्षा भूमिहार आदि अयाचक ब्राह्मणों में विद्याकी और विशेषकर संस्कृत विद्याकी कमी है । यदि संस्कृत विद्याका प्रचार रहता तो समाज अवश्यमेव अपने स्वरूप और कर्त्तव्योंको शास्त्रोंके द्वारा जानता, मानता । पर स्मरण रहे कि शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान तो अन्यान्य दलों में भी एक प्रकारसे नहीं ही है । तभी तो आज प्रायः सभी अन्यथा ही समझने लगे हैं । नहीं तो भला कहिये न, कहीं प्रतिग्राही होने और पराक्रमोजन से ब्राह्मण उत्तम हो सकता है ? यहो ब्राह्मणता का एकमात्र चिह्न माना जा सकता है ? परन्तु, आज ऐसा ही हो रहा है, जिसे आँखों देखते और कानों सुनते हैं । अस्तु ।

संस्कारों की तरफ यदि ध्यान दिया जाय तो ब्राह्मण समाज की दुर्दशा का पूरा पता लग जाता है । गर्भाधान आदि सोलह अथवा

(८६)

अड़तालीस संस्कारों की तो बात ही क्या कहें ? उनका करना तो दूर रहे, अधिकांश लोग उनके नाम तक भी नहीं जानते । जब संस्कारों का ही अभाव हो रहा है तो फिर संस्काराधीन होने वाले श्रौत स्मार्त कर्मों की क्या बात कहें ? फल यह हो रहा है कि चाहे कहने और डींग मारने के लिए कोई भी कुछ बने और बोले । पर, विचार कर देखने से सभी लोग श्रद्धा हो रहे हैं । बल्कि श्रद्धा जाति अपने स्थान पर पड़ी रहने के कारण अच्छी है । लेकिन अपने स्थान से पतित हो जाने के कारण ब्राह्मण समाज तथा क्षत्रियादि भी उन श्रद्धों से भी गए गुजरे हैं—निस्सत्त्व और निस्तेज हो रहे हैं । मनु आदि का कहना है कि—

वैदिकैः कर्माभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥

गार्भेहोमैर्जातकर्मचौडयौज्जीनिबन्धनैः ।

वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैर्लैविद्येनेज्यया मुतैः ।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

“द्विज मात्र के गर्भाधान आदि शरीर संस्कार वैदिक मंत्रों से करना कराना चाहिये । उसी से मनुष्य इस लोक तथा परलोक में पवित्र होता है । गर्भाधान आदि के होम प्रभृति और जातकर्म, मुंडन तथा उपनयनादि संस्कारों के करने से बीज और गर्भ के सभी दोष दूर हो जाते हैं । वेद पढ़ने और उसके लिये ब्रह्मचर्यादि व्रत, अग्नि-होत्रादि, वैश्वदेवादि, पंचमहायज्ञ और दर्शपूर्णमासादि कर्मों के करने से ही द्विजों का शरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य होता है, अन्यथा नहीं” (मनु० २ । २६-२८) । गर्भाधान कर्म तो दूर रहा, सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में लोगों की प्रकृति आसुरा हो रही है ! फल यह होता है

कि कामबुद्धि से उत्पन्न होनेवाले बच्चे भी वैसे ही कामुक, मेधारहित तथा शरीरबल हीन और निस्तेज होते हैं, जिसमें प्रतिदिन सन्तान की शक्ति क्षीण होती जा रही है। संस्कारों के नाम पर तीन संस्कार शेष रह गये हैं। यद्यपि उनकी भी दशा अच्छी नहीं है। विधिवत् होना तो दूर रहा, लोगों ने उन्हें लीला ही समझा है और उसी प्रकार से किए भी जाते हैं। फिर भी सभी लोग उनका नाम नहीं भूले हैं, यही गनीमत है। शेष संस्कारों का यद्यपि पता नहीं है, फिर भी उनके नाम पर कभी कभी कुछ खिला पिला देना अथवा ब्राह्मणों को कुछ देना अपना धर्म समझा जाता है। इसीलिए चाहे जातकर्म हो, न हो, पर, मूल और धनिष्ठा की शान्ति पर पूरा ध्यान केवल इसीलिये रहता है कि उसमें पुरोहित दल को आमदनी होती है। इसीलिये कभी कभी वह शान्ति धनिकों के मत्थे जबर्दस्ती भी मढ़ी जाती है। इस बात का मुझे स्वयं अनुभव है। तीन संस्कार जो अभी तक भूले नहीं हैं, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि हैं। उनमें उपनयन की तो एक प्रकार से काशी के सभी पर्वतों में इति-भी हो रही है। अधिकांश धनिकों के बच्चों के विवाहकालमें ही उससे दो चार घण्टे पूर्व उनके गले में यज्ञोपवीत, थोड़ा सा नाटक करने के बाद, डाल दिया जाता है। यह क्रिया अधिक से अधिक एक घण्टे में सम्पन्न की जाती है। सो भी केवल ब्राह्मणों में ही। क्षत्रियों की तो दशा इस विषय में और भी गई गुजरी है। उनके यहाँ तो प्रायः यह भी नहीं होता। सिर्फ विवाहकाल में जनेऊ पहना दिया जाता है और यदि विवाह न हुआ तो प्रायः बिना यज्ञोपवीत ही रहते हैं। वैश्यों की दशा और भी शोचनीय है। बहुतों के संस्कार बिल्कुल होते ही नहीं और यज्ञोपवीत उनके लिये एक अज्ञात पदार्थ है। हाँ, जिन ब्राह्मणों का विवाह गरीबी के कारण नहीं होता या देर से होता है उनका संस्कार कुछ नाममात्र के लिए अवस्था अधिक होने पर होता है। पुरोहित समाज के अधिकांश

(८८)

लोग किसी देवस्थान पर, या विन्ध्याचल में भगवती के पनाले में जनेऊ डुबोकर बच्चों के गले में डाल देते हैं ! उनकी देखादेखी दूसरों में भी यह बात कहीं कहीं पाई जाती है । उपनयनकाल में गायत्री आदि का उपदेश पुरोहित या ध्यास ही करते हैं । यह ठीक नहीं । क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्य के उपनयन प्रकरण में गदाधर ने गर्ग का वचन इस प्रकार उद्धृत किया है कि—

पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः ।

उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः ॥

पितैवोपनयेत्पूर्वं तदभावे पितुः पिता ।

तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सौदरः ॥

“उपनयन काल में गायत्री आदिका उपदेश पिता ही करे, उसके न रहने पर पितामह, उसके भी न रहने पर भाई, दायाद, सगोत्र और ब्राह्मण करे । प्रथम पिता ही उपदेश करे, उसके अभाव में ही पितामह, उसके अभाव में चाचा और उसके अभाव में सहोदर भाई करे” । चाहे क्षत्रिय वैश्य को भले ही ब्राह्मण ही उपदेश करें, क्योंकि उसके बाद अध्यापन का अधिकार उन्हीं को है, पर, ब्राह्मण के बच्चों के लिये तो ऊपर लिखा नियम ही माननीय है । उपनयन की अवस्था भी साधारणतया ब्राह्मण के लिये जन्म या गर्भ से आठवां वर्ष है । परन्तु यदि किसी आपत्ति वश अत्यन्त विलम्ब हो जाय तो भी सोलहवें वर्ष से आगे नहीं जाने देना चाहिये, नहीं तो पतित हो जाते हैं । लेकिन यदि ब्रह्मतेजकी कामना हो तो पाँच वर्ष में ही उपनयन कराकर गायत्री का अनुष्ठान कराना चाहिये । जैसा कि मनुस्मृतिके द्वितीय अध्यायके ३६ से ४० तक के श्लोकों से स्पष्ट है । यह रीति अभी तक मिथिला आदि देशों में और पश्चिम में भी पाई जाती है । उन देशों में गायत्री के

(८६)

उपदेश करनेवाले (आचार्य) भी पिता आदि ही होते हैं । लेकिन यदि किसी प्रकार से संस्कार हो भी गया तो भी गायत्री का नाम तक भी अधिकांश ब्राह्मण मरण पर्यन्त जानते ही नहीं ! फिर भी बड़ी बड़ी डॉगें मारते हैं । इस बात में भी मिथिला काशी के प्रान्तों से कहीं आगे है, यद्यपि अन्यान्य बातों में वह भी गिरी ही है ।

दूसरे विवाह संस्कार की तो निपट दुर्दशा है । कहीं घर विकते हैं तो कहीं कन्या और कहीं पर दोनों ! काशी के आसपास तो प्रायः घरों के ही बँचने (तिलक दहेज) की रीति है । पर मिथिला में दोनों की ही । साधारण श्रेणी के लोग कन्याविक्रय करते हैं तो धनीमानी मैथिल तथा पश्चिमा वर का ही विक्रय करते देखे जा रहे हैं । यद्यपि दोनों ही बातें खराब हैं और मनु आदि ने निषेध भी किया ही है । पर मानता कौन है ? वैवाहिक क्रिया की ओर ध्यान दें तो सोलहों आने सफाई है ! प्रायः वर कन्या दोनों पक्ष के मूर्खराट् पुरोहित ही यह कृत्य कराते हैं, जिनको कि अक्षर से भेट ही नहीं ! यदि है भी तो केवल शपथ खाने भर के ही लिए । जहाँ देखिए, प्रायः सभी विना पुस्तक के ! पेंथी खोलना तो पाप समझा जाता है और जो खोलता है उस की हँसी मूर्ख पुरोहित और यजमान दोनों मिल कर करते हैं ! वे कहते हैं कि अमुक परिडत को तो विवाह करना भी नहीं आता । नहीं तो भला पुस्तक देखने की क्या आवश्यकता थी ? कहिये न, भला वैदिक कर्म विवाह वेद मंत्रों से होगा और वे मंत्र जबानी ही अनाप सनाप बोले जायँगे ! इसी से तो फल भी बुरा हो रहा है । विधवाओं की संख्या अधिक बढ़ रही है ! बाल विवाह, वृद्ध विवाह तथा बहु विवाह की भी प्रथा जोरों पर है, जिससे व्यभिचार बढ़ रहा है और विधवाओं की संख्या बढ़ाने में भी वह कम सहायक नहीं है । धनी लोग मरते समय तक ३-३, ४-४ विवाह करते जाते हैं । फल यह हो रहा है कि गरीब या साधारण श्रेणी के लोगों में इस समय २५ प्रति सैकड़े को विना विवाहे रह जाना पड़ता है । इसका फल भविष्यमें

(६०)

बड़ा बुरा होगा। जनसंख्या में बहुत कमी हो जायगी। नाँच तमाशे की प्रथा दिनों दिन जोरों पर है। सुधारकों की अक्ल दंग है। "मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की" वाली बात है। जिस विवाह काल में विद्वानों की सभा करके गृहस्थाश्रम के धर्मों और कर्त्तव्यों पर विचार करना चाहिये कि इस विषय में शास्त्र क्या कहता है, उसी शास्त्र के अर्थ की भीमांसा करनी चाहिए-शास्त्रार्थ करना चाहिये। उसकी जगह ही वेश्या का नाँच और पण्डितों का भगड़ा होता है ! व्याकरण के किसी सूत्र की एक बात पर कुत्ते की तरह कुछ देर तक दो अपनी भौं भौं करते और लड़ते हैं। बस आजकल का यह शास्त्रार्थ है ! गोया, नाँच देखते देखते घबड़ा कर लोग दिल बहलाव के लिये विदूषक का सा तमाशा कराते और ठट्ठा मारकर हँसते हैं !

अत्येष्टि संस्कार की बात ही निराली है। एकादशाहके दिन ओ महाब्राह्मण या महापात्रश्राद्धादि कराते और शय्या आदिका दान लेते हैं वे तो और भी निरक्षर और दुराचारी हो रहे हैं। बहुत से देशों में उनकी दशा शत्रुओं से अच्छी नहीं। और देशों की तो नहीं कह सकते, पर काशी के प्रान्तों में उन्हें लोग छूते तक नहीं और न वे किसी की खाट पर बैठ सकते हैं ! फिर भी वही दान के अधिकारी समझे गए हैं और उनके पदार्पण बिना मृत पुरुष के लिये स्वर्गकी सीढ़ी बनती ही नहीं !! यदि स्कूल पाठशाला, या गोशाला के लिए कोई एक पैसा भी माँगे तो देना कठिन है। पर, उनके लिए तो जमीन जायदाद बँच कर भी देने के लिए सामग्री तैयार की जाती है ! इसके बाद ब्राह्मण भोजन के समय की बात और भी विलक्षण है। जैसा कि कह चुके हैं, लोग कर्ज लेकर भी अधिकसे अधिक संख्या में नाम के लिए मूर्खों और पतितों को खिलाना ही एकमात्र अपना कर्त्तव्य समझते हैं !! हालांकि श्राद्ध के समय विशेष कर सुपात्र ब्राह्मण की जाँच (परीक्षा) करने की आज्ञा मनु आदिने दी है। जैसा कि—

(६१)

दूरादेव परीक्षत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।

तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥

सदृशं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।

एकस्तान्मंत्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥

“वेदवेदांग पारगंत ब्राह्मण की परीक्षा प्रथम से ही करना चाहिए, क्योंकि वही देव, पितर के लिए दिए गए पदार्थों के लिए योग्य अधिकारी और पात्र है। जहाँ लाखों मुखों के खिलाने से जितना धर्म होता है वहाँ एक ही वेदवेदांग के ज्ञाता को भोजनादि से सन्तुष्ट करने से उतना ही पुण्य होता है” (मनु० ३। १३०, १३१) अतः इस अवसर पर अधिक मुखों को न खिला एक ही दो योग्य विद्वान और सदाचारियों को खिलाकर शेष अन्न, द्रव्य किसी गोशाला पाठशाला आदि सार्वजनिक धर्मकार्य में दे देना ही उचित है। आन्धादि में देने और खिलाने के बारे में भी यहां सर्वोत्तम पक्ष है कि अपने ही सगे भाई बिरादर, माता, पिता, बहिन आदि को दे और खिलावे। जैसा कि व्यास संहिता के चौथे अध्याय में लिखा है कि—

मातापितृषु यदद्यादभातृषु श्वशुरेषु च ।

जायापत्येषु यदद्यात्सोऽनन्तः स्वर्गसंक्रमः ॥३९॥

पितुः शतगुणं दानं सदृशं मातुरुच्यते ।

भगिन्यां शतसाहस्रं सोदरे दत्तमक्षयम् ॥४०॥

पात्राणमुत्तमं पात्रं शूद्राच्च यस्य नोदरे ॥४२॥

“जो दान माता, पिता, भाई, ससुर, स्त्री, पुत्र को दिया जाता है उससे अनन्त स्वर्ग मिलता है। पिता को दिया दान सौगुना, माता को सहस्र गुना, बहिन को लाख गुना और सगे भाई को

दिया अक्षय होता है। सर्वोत्तम दानपात्र वही है जिसके पेट में शूद्र का अन्न न हो"। हाँ, यह जरूर है कि बदले में कोई उपकार कराने के लिये दान न दिया जाय। अस्तु ! यह तो संचित हाल अन्त्येष्टिका है। इसी तरह श्रावणी आदि जितने कर्म प्रतिवर्ष होते हैं उन्हें ब्राह्मणसमाज एक प्रकार से भूल सा गया है और उनकी जगह पर कुछ और किया करता है। या यों भी कह सकते हैं, कि लोग कुछ भी करते कराते ही नहीं।

इसलिये यदि ब्राह्मण समाज की इच्छा है कि हमारी सत्ता दुनियाँ में रहे। हम भी दुनियाँ में मान्य और पूज्य रहें, जैसा कि पूर्वकाल में वास्तविक रूप से थे और अब भी लोगोंकी मूर्खता से लाभ उठाकर अपना प्रभुत्व येन केन प्रकारेण स्थिर कर रक्खा है, पर, कालचक्र वश वह प्रभुत्व अब रहनेवाला प्रतीत नहीं होता। तो ब्राह्मणमात्र को उचित है कि चाहे वह याचक दलवाला हो, या अयाचक दलवाला, अपने संस्कारों को, जो मृतप्राय अथवा मृत ही हो रहे हैं, सबसे प्रथम ठीक करे, उनको पुनर्जीवन दे और जो रूपान्तर में परिणत या नष्ट हो रहे हैं उन्हें यत्न करके अपने असली रूप में ला दे। सबसे बड़ी बात, जो इन संस्कारों के सम्बन्ध में अत्यन्त अपेक्षित है, यह है कि उनका रूप एकतो शास्त्रीय होना चाहिये और विधि भी शास्त्रीयही। साथही, वे अपने अपने उचित समय पर वैदिक या स्मार्त मंत्रों द्वारा कराये जावें। चाहे जैसे और जहां से हो उनका पद्धतियाँ और उनके करने कराने वाले परिष्ठित विद्वान उत्पन्न किये अथवा ढूँढ़ निकाले जायें। साथही, उनके करने कराने में जो समय और धनका व्यय हो तथा शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता पड़े उसके लिये तत्पर होना भी आवश्यक से भी आवश्यक है। ऐसा करने में जो बाधाएँ या कठिनाइयाँ आवें, जिनका आना अवश्यम्भावी है, उनका सामना दृढ़ता तथा सफलता पूर्वक किया जाय। इसके बाद गायत्री की उपासना-उसका अनुष्ठान-जित ना हो

सके बढ़ाया जाय । ऐसा होना चाहिये जिसमें उपनयन के बाद कोई त्रिना गायत्री की उपासना के न रह जाय । इसके साथ साथ सभी प्रकार की विद्याओं के सम्पादन के लिए कटिबद्ध भी अवश्य होना पड़ेगा । फिर वह विद्या चाहे लौकिक हो पारलौकिक; चाहे शास्त्रीय हो या राजकीय; चाहे संस्कृत हो, या हिन्दी, उर्दू फारसी और अंग्रेजी । इन बातों के बिना अब सत्ता का रहना तो असम्भव ही है ।

अब तक के विचारसे पता चल गया कि ब्राह्मण समाज का कैसा अधःपतन होगया है । इसीलिये उसकी और उसके ही साथ साथ जनताकी बुद्धिका प्रवाह भी कैसा विपरीत हो रहा है । अब साधारण रीतिसे ब्राह्मणता-पक्की ब्राह्मणता-का एकमात्र चिह्न केवल पुरोहिती और परान्नभोजन ही समझा जाता है । इसीलिये चाहे और आचरण कैसे भी उत्तम हों, पर, यदि कोई समाज का समाज ही इस पुरोहिती और परान्नभोजन से दूर रहे, तो उसकी ब्राह्मणता में भी सन्देह करने के अनन्तर उसे ब्राह्मणेतर या वर्णसंकर सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है ! इसके अतिरिक्त और भी रागद्वेष और थूकम फजीहती की अनेक बातें ब्राह्मण समाज में परस्परके प्रति पाई जाती हैं । इसीलिये इन थूकम फजीहती, गाली गलौज तथा आक्षेप कटाक्षों से बचने के लिये पूर्वप्रदर्शित संस्कार, गायत्रीकी उपासना आदि तथा संस्कृत अंग्रेजी आदि विद्याओंके पढ़ने पढ़ाने के अतिरिक्त प्रत्येक ब्राह्मण समाज को, चाहे वह याचक (पुरोहित) हो या अयाचक (पश्चिमा, जमींदार, भूमिहार, तगा आदि) नीचे लिखी छु बातों-बटू कम्मों-पर अवश्य ध्यान रखना और उन्हीं के अनुसार कामभी अवश्य करना चाहिये । जिस समाज ने ऐसा नहीं किया, जो समाज ऐसा नहीं करता है, अथवा भविष्य में नहीं करेगा; ब्राह्मण समाज और हिन्दू समाज में उसकी फजीहत सदासे होती आई; अब भी होती है और सदा होती रहेगी । पर, यदि इन

(४४)

बार्ताका प्रचार सभी ब्राह्मणों में होजाय तो फिर अनायासही परस्पर को नीच ऊंच बनाना वगैरः पूर्वोक्त फजीहतें और दुर्दशाएं दूर हो जाँय । वे बातें-बट् कर्म-ये हैंः—

(१) पहली और सबसे आवश्यक एवं सीधी बात यह है । कोई भी ब्राह्मण दल या उसका प्रत्येक आदमी, चाहे वह याचक हो या अयाचक, उस दूसरे ब्राह्मण दल या उसके किसी भी आदमी के हाथकी बनाई कच्ची रसोई किसी भी दशामें न स्वीकार करे जो उसके हाथ की बनाई कच्ची रसोई खाना स्वीकार न करता हो । फिर वह चाहे इष्ट-देव, गुरु या भगवान ही बनकर क्यों न आवे । हां, यदि उसके हाथकी वह खावे तो वह भी उसके हाथकी खा ले । इसमें कोई हानि नहीं है । हमारा पूरा अनुभव है कि यह खाने पीने वाला प्रश्न ही नीच ऊंच व्यवहार और ऐसी समझ के प्रधान कारणों में एक है । अतः इस नियम का पालन प्राणपन से करना चाहिये । भूखों मरना भले ही पड़े, पर, इसका भंग कभी न करे ।

(२) दूसरी बात यह है कि कोई भी ब्राह्मण, याचक या अयाचक, उस दूसरे याचक या अयाचक को भूलकर भी प्रणाम, नमस्कार या पालागन न करे जो उससे विद्या, तप या अवस्था में बड़ा न हो, गुरु या पुरोहित न हो, और अवसर पड़ने पर कभी उसे भी उसी ढंगसे प्रणाम, नमस्कार या पालागन न करता हो । इसका फल यह होता है कि व्यवहार बना रहता है और दूसरों के मनमें विपरीत भाव पैदा करने का अवसर नहीं आने पाता । परस्पर प्रणामादिके समय भी केवल नमस्कार, प्रणाम या पालागन शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिये और इनमें भी जहां तक हो सके 'नमस्कार' का ही व्यवहार आवश्यक है । साथही, गुरु, पुरोहित भी अवश्य अपनेही दलके हों ।

(३) तीसरी बात यह है कि प्रत्येक ब्राह्मण समाज में, चाहे वह याचक हो या अयाचक, सभी लोग न हो सकें तो भी अधिकांश

(६५)

या आवश्यकतानुसार प्रतिग्राम दो, चार, दस आदमी ऐसे अवश्य होने चाहिएं जो अपने घर और समाज के सभी कर्मकाण्ड, पिएडा पानी आदि करा सकें और आवश्यकता पड़ने पर हो सके तो कभी दूसरे समाज का भी काम करा दें। नहीं तो अपना काम तो अवश्य कर लें, जिससे उस समाज को दूसरे का मुख देखना न पड़े। इसके लिए निर्भीकता, दृढ़ता और कर्मकाण्ड की व्यावहारिक बातें जानने की आवश्यकता है। हम देखते हैं कि पुरोहिती करनेवालों के मूर्ख से मूर्ख बच्चे तक होम आदि के नाम पर घृत आदि को अग्नि में योहीं निर्भय होकर गिरा देते हैं। पर, उन्हीं के यजमान ब्राह्मण होकर भी ऐसा करने में डर और संकोच रखते हैं। अतः इस कर्मकाण्ड को करने के लिए, जिसका ब्राह्मणमात्र को अधिकार है, एकमात्र कारण निर्भयता है। वहीं पर जो एक भी निर्भय होता है वह कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करता है और दूसरा अनभिद्य, जिसको अपने शास्त्रीय सामर्थ्य का परिज्ञान नहीं है, निर्भय न होने से नहीं करता।

(४) चौथी बात संस्कृत विद्या का प्रचार है। प्रत्येक ब्राह्मण को, चाहे वह याचक हो या अयाचक, अपने आप संस्कृत पढ़ना तथा अपने समाज में संस्कृत विद्या का कम से कम इतना प्रचार तो अवश्य करना चाहिए, जिससे लोग कर्मकाण्ड को अच्छी तरह जान सकें और धर्मशास्त्रों एवं पुराणों में कहे गए ब्राह्मणों के स्वरूपों, धर्मों, आचार विचारों और कर्तव्यों को जानें। सब से आवश्यक तथा ध्यान योग्य बात इस सम्बन्ध में यह है कि जो कुछ भी शास्त्र का ज्ञान हो, वह यथार्थ हो, अन्धपरम्परा वाला होने से अवस्था में कोई परिवर्तन न होगा।

(५) पांचवीं पर, समय और समाज की गति देखकर सबसे आवश्यक बात यह है कि प्रत्येक ब्राह्मण, परम्परा के अनुसार चाहे वह याचक हो या अयाचक, पुरोहिती करने का और दूसरे सत्पात्र

के घर ब्रह्मभोज में सम्मिलित होने का अवसर आने पर भूल कर भी कभी मीन मेख या नहीं न करे । इसी नाहीं ने तो अधिकाधिक सत्यानाश किया है । यद्यपि पुरोहिती और परान्न भोजन कोई अच्छी बात नहीं है । पर, एक समाज या उसके कुछ ही आदमियों के ऐसा समझने से क्या लाभ ? जब तक ब्राह्मणमात्र अथवा हिन्दू जनता इस बात को मानने को तैयार न हो कि पुरोहिती आदि ब्राह्मणों की उत्तमता या ब्राह्मणता के चिह्न नहीं हैं, किन्तु विद्या, तप और सदाचार आदि ही हैं, तब तक तो पुरोहिती आदि सभी कुछ केवल इसीलिए हार कर करना ही होगा कि ब्राह्मण समाज में हीन न समझे जायँ । क्यों कि आजकल के ब्राह्मणसमाज ने ब्राह्मणता का यही एक मात्र चिह्न मान रक्खा है—यह ब्राह्मणसमाजका नियम है और जब तक समाज में रहना है और मान अपमान की फिक्र है तब तक इस नियम को प्रसन्नतापूर्वक, या विवशताही से सही, मानना ही पड़ेगा । नहीं तो जातिकी दुर्दशा अनिवार्य है । हाँ, जब ब्राह्मणसमाज इस नियम को छोड़ देगा तो शायद इसकी आवश्यकता नहीं रह जायगी । पर, इस समय तो वेश्यागामी पतिकी पतिव्रता स्त्रीवाली उसबात को स्मरण कर इस बातमें तत्पर हो जाना चाहिए, जो वेश्या के घर पतिको जूता खाते देख उसने भी की थी । ऐसा करना यद्यपि उसके लिए अनुचित था, पर, उसने देखा कि जब यह मेरा पति वेश्या के यहां मेरे यहाँसे और कोई विशेष सुख न होनेपर भी केवल इसीलिए जाता है कि कभी कभी वह इसे जूने लगाया करती है तो फिर मैं ही क्यों न वह काम कर लूँ जिससे इसका और मेरा भी धर्म रह जाय । इसके सवाय एक बात यह भी है कि जब पुरोहिती से भी निन्द्य और घृणित नौकरी, जूमा, सूद दरसूद आदि उन नारकीय कामों के करनेमें संकोच नहीं है जिनकी शास्त्र सहस्रशः निन्दा करता है तो इसी में इतनी घृणा क्यों ? आखिरकार, आपत्तिकाल के ही लिए सही, है तो यह ब्राह्मण का ही धर्म । आपत्तिकाल भी इससे बढ़कर क्या होगा

(६७)

कि इसी के बिना जातिही गँवानी पड़ेगी और पड़ रही है ? कहा भी है कि "सबसे कठिन जाति अपमाना" । और और ब्राह्मणदल्लो में तो इसकी कमी नहीं है । पर. परम्परासे अयाचक कहानेवाले पश्चिमा, जमींदार, भूमिहार, तगे आदि ब्राह्मणों में ही इसकी एकबारगी कमी है । लेकिन आनन्द की बात यह है कि उनके यहाँ भी इसका बिल्कुल अभाव नहीं है । देवमूँगाके सूर्यमन्दिर के पुजारियों की बात कही चुके हैं । इसके सिवाय हजारीवाग जिले के चौपारन और इटखोरी थानों के इलाकों के १०-१५ कोस में रहनेवाले पश्चिमा या भूमिहार ब्राह्मण क्षत्रियों, कायस्थों, बाभनो और माहुरी आदिकी पुरोहिती करते हैं । उनकी जीविका केवल पुरोहिती ही है और कागजों में लिखी भी जाती है । इसी तरह पटना-बड़गाँव-के पं० जगन्नाथ पाण्डे भी अयाचक दलके होकर पुरोहिती करते हैं । इससे भी हर्षकी बात है कि दरभंगा, मुंगेर, चम्पारन, मुजफ्फरपुर और शाहाबाद के सिमरी आदि गावोंके भी लोग अब इधर ध्यान देने लगे और बहुत जगह पुरोहिती करने लगे हैं । पर इसका विशेष यत्न होना चाहिये कि सर्वत्र लोग ऐसाही अनुष्ठान करने लग जायँ ।

(६) छठी और अन्तकी बात यह है कि सभी अयाचक ब्राह्मणों को, चाहे वे त्यागी कहलाते हों, या भूमिहार, पश्चिमा, जमींदार, बाभन या महियाल, गोलापुरी आदि, चाहिये कि जब उनके अपने को ब्राह्मण बताने पर सह प्रश्न किया जाय कि आप कौन ब्राह्मण हैं, तो वे अपने को गौड़, कान्यकुब्ज, सर्यूपारी, मैथिल, सारस्वत आदि उसी नाम से बतावें जिस दल के वे हों और उन उन प्रान्तों में जिन जिन दलों की प्रधानता हो । कारण, गौड़, मैथिल, कान्यकुब्जादि से पृथक् कोई नहीं हैं । हाँ, उसके बाद सभी अपने को यह कह सकते हैं कि 'लेकिन हम जमींदार हैं न कि साधारण गौड़ आदि' । इसीसे ब्राह्मण समाज का कल्याण होगा ।

(६८)

लोकार्पिनन्दचन्द्राख्ये वैक्रमेऽब्दे सिते दले ।

गुरौ भाद्रे चतुर्थ्यां च सम्पूर्णो जान्हवीतटे ॥ १ ॥

रचितः सहजानन्दसरस्वत्याख्यदाण्डिना ।

अमुना पार्वतीजानिः प्रीयतां पृथिवीपतिः ॥ २ ॥

इति श्रीवाराणसेयदशाश्वमेधघटस्थमठभूतपूर्वालङ्कारश्रीमद्विश्व-
रूपसरस्वतीपूज्यपादविनेयपरम्पराप्रविष्टश्रीमत्स्वामिवर्याद्वैतानन्द-
सरस्वतीपूज्यचरणाम्बुजभृङ्गायमाणस्वामिसहजानन्दसरस्वती विर-
चितायां ब्राह्मणसमाजस्थितावुत्तरार्द्धम् ॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥



ब्रह्मर्षि वंश विस्तर ।

ब्राह्मणसमाज की स्थिति ।

कर्मकलाप ।

प्रथम ग्रन्थ अत्यन्त अनुसंधान के साथ लिखा गया है । इस का महत्त्व और उपयोग पढ़ने वालों को ही मालूम होगा । इस की युक्तियाँ और प्रमाण अकाट्य हैं । ब्राह्मण मात्र के लिये यह अमूल्य रत्न और उनका सच्चा इतिहास है । उनके आवश्यक और महत्त्वपूर्ण धर्मों एवं कर्त्तव्यों का यह महान संग्रह है । यह पुस्तक भूमिका सहित ४८० पृष्ठों में पूरी हुई है । इसका मूल्य केवल डेढ़ रुपया है । ब्राह्मणसमाज की स्थिति नामकी दूसरी पुस्तक, जो आकार में प्रायः इसकी चौथाई है, केवल आठआने में मिलती है । ब्राह्मणसमाज की स्थिति को एक प्रकार से ब्रह्मर्षि वंश विस्तर का परिशिष्ट समझना चाहिये ।

कर्मकलाप समस्त कर्मकांड (सामवेदी और यजुर्वेदी) की पद्धतियों का विशद हिन्दी में संग्रह है । सभी कठिन बातें स्पष्ट कर दी गई हैं । केवल मंत्र संस्कृत में हैं । अन्त में गृहस्थोपयोगी सभी ज्योतिषका हिन्दी में संग्रह है । पुस्तक १२०० पृष्ठोंकी है । मूल्य सवा चार रुपया । मंडपादि के १६ चित्र भी हैं ।

मिलने का पता—

(१) मैनेजर, ब्रह्मर्षि पुस्तकालय, श्रीसीतारामाश्रम,

विहटा ई. आई. आर., बिहार

(२) बा० वेनीप्रसादसिंह, सरायगोबर्धन, बनारस सिटी ।



